ग्रन्थाङ्क ३

जैनदृष्टि

लेखक

डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री

एम ए पी एच डी

प्रकाशक

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर

विषयानुक्रम

पुस्तक

जनदृष्टि

प्राप्तिस्थान

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर (राजस्थान)

संस्करण प्रथम
प्रति ११००
सन् १९६८
मूल्य एक रुपया

मुद्रक

उद्योगशाला प्रेस
किंग्सवे कैम्प दिल्ली-९

प्रकाशक की ओर से

जैनदृष्टि

लेखक

डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए० पी एच० डी०

प्रकाशन
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर (राज०)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कालचक्र

जैनमत के अनुसार विश्व अनादि और अनन्त है। काल परिवर्तनशील है। इसका उत्थान और आरोह। पतन भी चलती है जिसका पारिभाषिक नाम कालचक्र है। यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है कभी विकास की ओर और कभी ह्रास की ओर। विकास वाले छः आरों को उत्सर्पिणी कहा जाता है और ह्रास वाले आरों को अवसर्पिणी।

धर्म की स्थापना

उत्सर्पिणी के प्रथम और द्वितीय तथा अवसर्पिणी के पंचम और षष्ठ आरे पाप प्रधान होते हैं। दूसरी ओर उत्सर्पिणी के पंचम तथा षष्ठ तथा अवसर्पिणी के प्रथम तथा द्वितीय आरों में मानव सरल और सन्तोषी होता है। स्वयंप्राप्त फल मूल पर निर्वाह हो जाने के कारण उसे आजीविका के लिए श्रम नहीं करना पड़ता। इन युगों को भोगभूमि या प्रथम भूमि कहा जाता है[1]। धर्म की स्थापना तीसरे के मध्य में होती है।

---

१ जैनशास्त्रों में कहा गया है कि उन दिनों प्रत्येक दम्पती से एक कन्या और एक पुत्र उत्पन्न होता है। ये ही बड़े होकर पति-पत्नी बन जाते हैं। इस व्यवस्था को युगल धर्म कहा गया है।

वतमान युग अवसर्पिणी का पचम आरा है। प्रथम ने तथा तृतीय का अधिकाश भाग भोगभूमि था। उसके अत म स्वय प्राप्त सामग्री पर निर्वाह कठिन हो गया। इसी प्रकार एक युगल म कन्या का स्थान हो गया और दूसरे में रहन का।

उसी समय प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए। उन्होंने खाद्यसकट दूर करने के लिए कृषिविद्या का आविष्कार किया साथ ही आग जलाना बतन बनाना आदि कलाए सिखाई। युगल व्यवस्था समाप्त हो जाने के कारण विवाहव्यवस्था की नीव डाली। समाज का विभिन्न वर्गों म विभाजन किया। राज्यव्यवस्था की नीव डाली। अतिम अवस्था म घर छोडकर सयास ले लिया और धम का उपदेश दिया। इस प्रकार वे प्रथम वनानिक प्रथम शिक्षा प्रथम समाजशास्त्री प्रथम राजनीतिज्ञ तथा प्रथम धम प्रवतक थे। उनका जीवन श्रमण और ब्राह्मण परपराओ के साम जस्य को प्रकट करता है। भागवत के पचम स्कध म उनका वणन चार अध्यायो म आया है और उन्हे परमभागवतो म गिना गया है। इस प्रकार ऋषभदेव हमारे सामने वदिक वष्णव और जन तीनो परपराओ के महापुरुष के रूप म आते हैं।

जन कथासाहित्य म उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती माने गये हैं। कहा जाता है कि उन्होंने एक शीशमहल बनवाया और राजसी वेशभूषा म बैठा करते। एकबार स्नान करते हाथ म अगूठी गिर गई और अगुली की प्रभा फीकी पड गई। धीरे धीरे उन्होंने अय आभूषण भी उतारने प्रारभ किए और प्रत्येक अग फीका पडता गया। अत मे मुकुट भी उतार डाला और चेहरा फीका पड गया।

भरत के मन में आया—क्या यह सारी सजावट मेरी थी ? ही नहीं पर मन भर रहा था। विरक्ति बढ़ती गई और उन्हें केवल्य प्राप्त हो गया। यह घटना इस सत्य को प्रकट करती है कि अनासक्ति अनासक्ति का मूल मन्त्र है। विरति उसका साधन मात्र है अतः आत्म में साध्य नहीं।

जब भगवान ऋषभदेव ने संन्यास लिया था भरत और बाहुबलि के अतिरिक्त सभी पुत्र दीक्षित हो गए। उधर भरत चक्रवर्ती बना किन्तु बाहुबलि ने उसकी अधीनता स्वीकार न की। दोनों में युद्ध हुआ। उस समय बाहुबलि के मन में आत्मग्लानि हुई और वह विरक्त होकर वन में चला गया। भगवान् के पास नहीं गया। क्योंकि उसके मन में अहंकार था। उनके पास जाने पर पूर्वदीक्षित छोटे भाइयों को वन्दना करनी पड़ती। वन में जा कर ध्यानस्थ खड़ा हो गया और एक वर्ष बीत गया। शरीर पर बेलें चढ़ गईं पक्षियों ने घोंसले बना लिए किन्तु केवलज्ञान न हुआ। उस समय ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो बहिनों ने पास जाकर उसे समझाया और अहंकार छोड़ने के लिए कहा। भगवान के पास जाने के लिए पैर उठाते ही बाहुबलि को केवलज्ञान हो गया। यह घटना इस तथ्य को प्रकट करती है कि साधना के क्षेत्र में अहंकार बहुत बड़ी बाधा है। महिला द्वारा भाई का अहंकार दूर किया जाना इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को प्रकट करता है। जब पुरुष अहंकार में उन्मत्त होकर विनाश की ओर चल पड़ता है नारी उसका पथ प्रदर्शन करती है।

ऋषभदेव के पश्चात् सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ उल्लेखनीय

है। वे प्रथम अवस्था में चक्रवर्ती थे और राज्य छोड़कर तीर्थंकर बने। कहा जाता है पूर्वभव में वे एक बार मेघरथ नाम के राजा थे। उनकी अहिंसा और दयालुता की दूर दूर तक प्रशंसा थी। दो देवता परीक्षा लेने के लिए आए। एक कबूतर बन गया और दूसरा उस पर झपटने वाला बाज। डरा हुआ कबूतर राजा की गोद में आकर बैठ गया। पीछे पीछे बाज आया और कहने लगा—राजन् यह कबूतर मेरा भोजन है। मैं भूखा हूँ इसे छोड़ दीजिए और मुझे अपनी भूख मिटाने दीजिए।

राजा ने उत्तर दिया—मैं शरणागत को नहीं छोड़ सकता। भूख मिटाने के लिए तुम इसके बदले में मेरा मांस ले लो। तराजू मंगाई गई। एक ओर कबूतर रखा गया दूसरी ओर राजा अपने अंग काट कर डालने लगा किंतु कबूतर भारी होता गया। अन्त में राजा ने अपना सारा शरीर तराजू पर चढ़ा दिया।

यह देखकर बाज और कबूतर स्तब्ध रह गए। दोनों अपने असली रूप में प्रकट हुए और राजा की प्रशंसा करते हुए वापस चले गए।

शान्तिनाथ का जीवन भी साम्य-व्यवस्था को लिए हुए है। कबूतर की घटना से ज्ञात होता है कि जैनधर्म अहिंसा के साथ शरणागत की रक्षा को भी महत्त्व देता है। यही घटना महाभारत में शिवि राजा के नाम से आई है। इससे सिद्ध होता है कि शान्तिनाथ भी समस्त भारतीय संस्कृति के महापुरुष थे।

प्रथम [illegible] तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में हुए। उन्हें

पौराणिक म [illegible] [illegible] था [illegible] । किन्तु अहिंसा [illegible] [illegible]
[illegible] लिखा गया है ।

[illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible], [illegible]
[illegible] [illegible] । [illegible] समय के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]
[illegible] ८०० [illegible] [illegible] है । उनके [illegible] ६०० [illegible]
में अन्तिम [illegible] भगवान महावीर हुए ।

[illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] है कि
उस समय [illegible] परिस्थिति थी और उसमें भी [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है ।

[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] के [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] के [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] है ।

दूसरा [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible]
का प्राचीनतम धर्म है । [illegible] [illegible] यह भी [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] । किन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] —

(१) वासुदेव
(२) संकर्षण (कृष्ण के बड़े भाई)
(३) प्रद्युम्न (पुत्र)
(४) अनिरुद्ध (पौत्र)

उत्तरकाल में आध्यात्मिक व्याख्या की गई। किन्तु यह स्पष्ट है कि इसका प्रारम्भ कृष्ण और उनके परिवार की पूजा से हुआ। इतना ही नहीं कृष्ण की रानियों को भी देवी शक्तियों के रूप में पूजा गया। यह गाथा के आधार पर व्यक्ति की पूजा थी किन्तु व्यक्ति के आधार पर गुणों की व्याख्या थी। कृष्ण की प्रत्येक चेष्टा को गुण मान लिया गया। उनका उठना बैठना खाना पीना विनोदक्रीड़ाएँ आदि सारी बातें धर्म का अंग बन गया। उनका श्रवण कीर्तन एवं अनुकरण साधना का मुख्य तत्त्व हो गया।

नेमिनाथ ने व्यक्तिपूजा के स्थान पर गुणपूजा का प्रतिपादन किया। भक्ति का स्थान गुणों के प्रति श्रद्धा ने ले लिया। दोनों परम्पराओं में टक्कर हुई और परस्पर आक्षेप होने लगे। जैनधर्म अपने महापुरुषों के साथ जो विशेषण लगाता है वे भागवत परम्परा से भिन्न हैं। जैन आगमों का पर्यालोचन करने से पता चलता है कि इस परम्परा का कृष्ण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। अन्तकृद्दशांगसूत्र में कृष्ण की रानियों का वर्णन है जो कठोर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करती हैं। वह्निदशाओं नामक सूत्र वृष्णिकुल से सम्बन्ध रखता है। ज्ञाताधर्मकथा में भी कृष्ण की जीवन घटनाएँ आई हैं। जैन परम्परा त्रेसठ शलाका

अपना मित्र है और वही शत्रु । दूसरी ओर यह भी बताया गया है कि व्यक्ति को अपना सब कुछ भगवान् के हाथों में सौंप देना चाहिए । कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का यह समन्वय वस्तुतः देखा जाय तो उपर्युक्त दो परम्पराओं का समन्वय है । ज्ञानमार्ग के रूप में तीसरी परंपरा का प्रारंभ उपनिषदों में हुआ है । इस प्रकार गीता साधना की प्राचीन परम्पराओं की प्रतिनिधि बन गया । महाभारत में भी कर्म और भक्ति को लेकर अनेक सवाल मिलते हैं । उपर्युक्त विवेचन से हमारे सामने भगवान महावीर की देन के रूप में तीन बातें आती हैं—(१) अहिंसा (२) गणपूजा (३) पुरुषार्थ का महत्त्व ।

पार्श्वनाथ के समय तापसों का बहुत प्रचार था । पंचाग्नि तप करना हाथ उठाकर घूमते रहना एक टांग पर खड़े रहना वृक्ष में उल्टा लटकना आदि नाना क्रियाएं साधना का मुख्य तत्त्व था । साधारण जनता ऐसा करने वालों को योगी अथवा आध्यात्मिक महापुरुष मानकर पूजती थी । पार्श्वनाथ ने इस तरह क्रियाकांड के विरुद्ध आवाज उठाई और आभ्यन्तर तप का महत्त्व दिया ।

कहा जाता है जब वे राजकुमार थे एक बार घूमने के लिए नगर से बाहर गए । वहां कमठ नाम का तापस पंचाग्नि तप कर रहा था । पार्श्वनाथ ने देखा कि एक लक्कड़ में सांप छिपा हुआ है और तापस से उसकी प्राणरक्षा के लिए कहा । उसने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया—राजकुमार धर्म के विषय में क्या जानते हो ? तुम्हें इस विषय में नहीं बोलना चाहिए । पार्श्वनाथ

और मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया। महावीर ने इसका भी विरोध किया और अपने श्रमणसंघ में सभी को समान अधिकार दिया।

ऊपर तीन परम्पराओं का निर्देश आया है—भागवत, तापस और वैदिक। वैदिक के पुनः दो भेद हो गए—(१) यज्ञ यागादि क्रियाकाण्ड में विश्वास रखने वाले मीमांसक (२) आत्म साक्षात्कार पर बल देने वाले वेदान्ती। महावीर के समय इनके अतिरिक्त कुछ अन्य परम्पराओं का भी उल्लेख आता है। जिनकी पृष्ठभूमि में अनेकान्तदृष्टि का विकास हुआ।

सर्वप्रथम स्थानबौद्धों के अनात्मवाद का है। उनका कथन है कि आत्मा नाम का कोई शाश्वत तत्त्व नहीं है। वह केवल अनुभूतियों की धारा है। प्रति क्षण पिछली अनुभूतियाँ समाप्त होती जाती हैं और उनका स्थान नई अनुभूतियाँ लेती रहती हैं। एक दिन यह धारा सूख जाती है। इसी का नाम निर्वाण है। महावीर ने इस परम्परा के विरुद्ध शाश्वत आत्मतत्त्व को प्रस्तुत किया।

द्वितीय परम्परा शून्यवाद की थी। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसका कथन था कि बाह्य जगत् सत्य नहीं है। वह स्वप्न के समान अवास्तविक है। महावीर ने इसके विरुद्ध बाह्य जगत् को भी सत्य बताया।

तीसरी परम्परा नास्तिकों की थी। उनका कथन था कि शरीर और आत्मा परस्पर भिन्न नहीं हैं। शरीर का नाश होने पर आत्मा

का भी नाश हो जाता है। ऐसा कोई तत्व नहीं है जो परलोक में जाता हो। स्वर्ग तथा नरक कोरी कल्पना है। नास्तिकों की कुछ परम्पराएं चार भूतों को मानती थीं, कुछ आकाश को मिलाकर पाँच, कुछ काल को मिलाकर छः, कुछ नियति, स्वभाव आदि को मिलाकर सात या आठ मानती थीं। सूत्रकृतांग के टीकाकार [illegible] में इन सबका वर्णन है। महावीर ने इन सबसे भिन्न शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व बताया।

चौथी परम्परा नियतिवाद की थी। इसका प्रतिपादक गोशालक [illegible] साधनाकाल में कुछ समय तक महावीर के साथ रहा था। इसकी मान्यता है कि विश्व में परिवर्तन [illegible] नियति के अनुसार होता है। प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य निश्चित है। इस प्रकार पुरुषार्थ द्वारा उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। महावीर ने इसके विरुद्ध पुरुषार्थ का समर्थन किया। नियतिवाद ने ईश्वर की पराधीनता के विरुद्ध आवाज उठाई थी, महावीर ने नियतिवाद के विरुद्ध। जैन कर्मवाद कर्मों पर [illegible] के प्रभाव को स्वीकार करता है। साथ ही यह भी मानता है कि व्यक्ति पुरुषार्थ द्वारा उस प्रभाव को परिवर्तित या समाप्त किया जा सकता है। नियतिवाद को आजीवक सम्प्रदाय भी कहा जाता था।

ऊपर के विवेचन से जैन [illegible] निम्नलिखित [illegible] हैं [illegible] [illegible] दोनों की भूमिका का स्पष्ट है

(१) अहिंसा
( ) [illegible]

(३) कर्मवाद अर्थात् निजी पुरुषार्थ में विश्वास।
(४) हृदयहीन क्रियाकाण्ड की अपेक्षा विचारशुद्धि का अधिक महत्त्व।
(५) आत्मविकास के पथ में मानवमात्र का समान अधिकार।
(६) आत्मा के रूप में शाश्वत तत्त्व।
(७) बाह्य जगत की वास्तविक सत्ता।
(८) परमाणु का अस्तित्व।
(९) पुरुषार्थ का महत्त्व।

जीवन दृष्टि

प्राणिमात्र में दो वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। सर्वप्रथम वह अपना संरक्षण चाहता है। इसके लिए दूसरों के साथ संबंध जोड़ता है और सामाजिक नियंत्रण स्वीकार करता है। इसमें मुख्य भावना भय एवं सुरक्षा की रहती है। ज्यों ज्यों हम चिंता से निवृत्त होते हैं भय का स्थान अहंकार लेता है और सुरक्षा का विस्तारभावना। इस प्रकार दूसरी वृत्ति पनपने लगती है। महत्त्वाकांक्षाएँ जागती हैं और वह फैलना चाहता है। प्रथम वृत्ति सामाजिकता के लिए प्रेरित करती है और द्वितीय वैयक्तिक स्वातंत्र्य के लिए।

संरक्षण की भावना मुख्य होने पर हम अधिक से अधिक व्यक्तियों के साथ संबंध जोड़ना चाहते हैं। जब वास्तविक संबंध नहीं मिलते तो धर्म, जाति, राष्ट्रीयता, सिद्धान्त आदि के नाम

पर रहता। कल्पना भी जाता। । इसी भावना का आदर सम्मान युक्त होता है। जब संस्था। संगठन में व्यक्ति का स्वार्थपूर्ति नहीं होता तो सम्प्रदाय से अलग उसका विरोध करने लगता है। मोहल्ला तथा प्रचार द्वारा अनुयायियों का संग्रह करता है। संगठन उसके संगठन का दृढ़ बनाने के लिए वह भी पर विचार पर प्रतिबन्ध लगाने लगता है। यदि कोई बात ऐसा भी आ जाता है तो उस दोष करने का साहस नहीं होता। इस प्रकार वह व्यक्ति संगठन का अनुयायी बन जाता है समय पाकर यह संस्था संगठन का भौतिक प्रतिरूप बन गया है और वह वैसा माना जाता है।

रहता है और द्वितीय में विस्तार की। इस के घर में उसकी दृष्टि कर्तव्य पर रहती है और पर के घर में अधिकार पर। इस के लिए प्रेम तथा त्यागवृत्ति अपनाता है पर के लिए हिंसा एवं अपहरण।

अनुयायी भी नाना प्रकार के होते हैं। कुछ क्रान्ति या नवीन विचारधारा का स्वागत करते हैं और कुछ विरोध। प्रथम में विकास की भावना बलवती होती है और द्वितीय में संरक्षण की। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम वर्ग समझदार होता है और द्वितीय नासमझ। इतना ही अन्तर है कि प्रथम वर्ग वर्तमान से असन्तुष्ट होता है। यह असन्तोष कहीं उचित और साधार होता है और कहीं अनुचित और निराधार। ऐसा वर्ग प्रत्येक नई बात का स्वागत करता है चाहे बाद में उसका परिणाम बुरा ही हो। द्वितीय वर्ग में भी नाना प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कुछ पुरानी बात को जाति राष्ट्र धर्म आदि किसी अस्मिता के नाम पर पकड़े रहते हैं कुछ उचित समझकर। नाना व्यक्तियों में जो परम्परा समझ को लेकर चलता है उसी का विकास होता है अन्य दो या तो विनाश की ओर चल पड़ते हैं या रूढ़ियों में खो जाते हैं।

जो परम्परागत सामाजिकता का समर्थन करते हैं वे पुस्तक परम्परा आदि के रूप में किसी साँचे को पकड़ लेते हैं और व्यक्ति को तदनुसार गढ़ना चाहते हैं। वहाँ मूल्यांकन का आधार उस साँचे द्वारा तैयार की गई मर्यादाएँ होती हैं। व्यक्ति स्वतन्त्र प्रतिभा एवं पुरुषार्थ को छोड़कर उन मर्यादाओं का जितना

और जितना पालन करता है उतना ही धार्मिक माना जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि जीवन के स्थान पर जड़ता की उपासना होने लगती है।

दूसरी ओर जो परपराएं व्यक्ति को महत्त्व देती हैं उनके सामने ऐसा कोई लक्ष्य नहीं रहता जिसे स्थायी मानकर आगे बढ़ सकें। जिस लक्ष्य का प्रतिपादन है बौद्धिक विवेचन उसे छिन्न भिन्न कर डालता है। 'यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा' अर्थात् जैसे जैसे विचार करते हैं सभी धारणाएँ विलीन होती चली जाती हैं। परिणामस्वरूप कहीं आस्था नहीं रहती। प्रगति का कोई लक्ष्य नहीं रहता। कोई प्रेरणा नहीं रहती। जीवन नीरस हो जाता है। प्रथम का उदाहरण वैदिक परपरा है जहाँ मनुष्य का व्यक्तित्व को शास्त्रीय आज्ञाओं में बद्ध किया गया। द्वितीय का उदाहरण बौद्धों का शून्यवाद है जहाँ शून्य की भावना का भी समाप्त कर दिया गया। मध्यकाल में इसका पर्यवसान वाममार्ग के रूप में हुआ। जीवन को मूल्यहीन समझकर पुरुषार्थ से उपरत होने की मनोवृत्ति का फल है जो भारत का राष्ट्रीय चरित्र बना हुआ है।

समाज और व्यक्ति में परस्पर सापेक्षता है और नियत्य नियामक भाव भी। सरक्षण की चिन्ता से मुक्त हुए बिना व्यक्ति विकास नहीं कर सकता। दूसरी ओर विकास के बिना समाज में सड़ांध पैदा होने लगती है और उसका आवलम्बित समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अनियंत्रित विकास समाजद्रुम को छिन्न

भिन्न कर डालता है। जब शक्ति पर नैतिकता अध्यात्म सामाजिकता आदि किसी बात का नियंत्रण नहीं रहता तो वह उद्दण्ड हो जाता है और यह औद्धत्य घास में लगी आग के समान समाज को भस्म कर डालता है। शक्ति की आग जब तक प्रकाश के समान मर्यादित रहती है तो उससे प्रकाश मिलता है। अमर्यादित होने पर वह विनाश का कारण बन जाता है। इस प्रकार अस्तित्व की चिंता शक्ति पर नियंत्रण रखती है। दूसरी ओर शक्ति अस्तित्व का परिष्कार करती है। उसके बिना अस्तित्व एक कचरा जैसा लगता है। झाड़ झंखाड़ खड़े हो जाते हैं और वास्तविक तत्त्व छिप जाता है।

बीज को अंकुरित होने के लिए कुछ समय तक भूमि में रहना पड़ता है। ज्यों ही जीवन आता है वह भूमि को फाड़कर ऊपर उठना चाहता है। यदि बाहर न निकले तो उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाएगी। यदि भूमि में सड़ता रहे तो सूख जाएगा। समाज भूमि है और व्यक्ति वह बीज जो अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण करता है। फल-फूल तथा छाया देता है। भूमि में पड़ा रहनेवाला बीज यह उपहार नहीं दे सकता। उसका समय नहीं होता। धरती उसी बीज पर गर्व कर सकती है जो उसे निकल कर वृक्ष का रूप लेता है।

धर्म

भारत की आध्यात्मिक परंपराओं का स्थूल रूप से दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—श्रमण और ब्राह्मण। यह

विभाजन उपयुक्त दो दृष्टियों को प्रकट करता है। श्रमण प परा व्यक्तिलक्ष्यी है और ब्राह्मण परम्परा समाजलक्ष्यी। श्रम परम्परा सामाजिक उत्तरदायित्व को बंधन मानती है और घरब छोड़कर संन्यासी बनने पर बल देती है। ब्राह्मण पर गार्हस्थ्य को जीवन का मुख्य अंग मानता है। ब्रह्मचर्याश्रम उस तैयारी है, वानप्रस्थ और संन्यास विश्राम। श्रमण परम्प संन्यास को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वहाँ गृहस्थाश्रम दु का भी जाने वाली सुविधा है। जो मुसाफिर राह चलते गया उस वृक्ष की छाया में घड़ी भर विश्राम के लिए जाता है। यह विश्राम अपने आप में लक्ष्य नहीं होता। थकावट दूर करने के लिए होता है। इसी प्रकार श्र परम्परा में गृहस्थाश्रम एक विश्राम है। ब्राह्मणपरम्परा का दृ में वही जीवन का मुख्य भाग है। किंतु श्रमण परम्परा उसे ब मानती है और मोक्ष को लक्ष्य के रूप में उपस्थित करती वस्तुतः देखा जाय तो मोक्ष का अर्थ ऐसी मृत्यु है जिसके पश्च जीवन मरण न हो।

दोनों दृष्टियों में आदान प्रदान हुआ और श्रमण परम्पराओं ने सांसारिक सुखों को भी धर्म का अवान्तर फल मान लिया। स्वर्ग की कल्पना इसी रूप में आई। दूसरी ओर ब्राह्मण परम्परा ने धर्म और संन्यास दोनों को अधिकारी भेद के रूप में स्वीकार कर लिया।

धर्म अथवा राजनीति कोई क्षेत्र हो प्रत्येक मत स्वतन्त्र विचारों को लेकर चलता है। जब तक वे बल नहीं पकड़ते

-उनका दमन किया जाता है। वह पद्धति पर नये ज्ञान का अपना लिया जाता है और नेता अवतार तीर्थंकर बुद्ध या पैगंबर बन जाता है। उस केन्द्र में रखकर नया धर्म तैयार होता है। समय बीतने पर वह भी पिछड़ जाता है और नया नेता एवं नया धर्म की आवश्यकता महसूस होने लगती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष होकर चलते रहते हैं। जन ... शाखा को उचित प्रश्रय दिया जाता है।

जब जन ... व्यक्ति सुरक्षा की चिंता से ऊपर उठ चुका है उसके लिए व्यक्तिस्वातंत्र्य का प्रस्तुत किया और दूसरे के लिए समाजवाद का। उनका कथन है कि हिंसक अथवा क्रूर स्वभाव वाले व्यक्ति को व्यक्तिस्वातंत्र्य के स्थान पर सामाजिकता की ओर जाना चाहिए। अहिंसक अथवा परिपक्व व्यक्ति को सामाजिक बंधन छोड़कर व्यक्तिस्वातंत्र्य की ओर। प्रथम के लिए सामाजिकता विकास है। द्वितीय के लिए बंधन। इन्हीं दो भूमिकाओं को श्रमण श्रावकधर्म और मुनिधर्म के रूप में उपस्थित किया गया है।

धर्म भावनाओं का परिष्कार करता है। जैनधर्म का कथन है कि क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष आदि मनोविकार हमारी भावनाओं को दूषित कर देते हैं। परिणामस्वरूप जीवन में वैषम्य आ जाता है और वैषम्य ही पाप है। जैनसाधना सामायिक से प्रारंभ होती है। उसका अर्थ है वैषम्य को दूर करके समता प्राप्त करने का अभ्यास। यह मुनि का जीवनव्रत होता है और गृहस्थ यथाशक्ति कुछ समय के लिए अपनाता है।

जो व्यक्ति विरोध करता है, हम उसे अपना शत्रु मानते हैं। धर्म का कथन है कि द्वेषभावना पतन का कारण है अतः उसे शत्रु न मानें। दूसरे को शत्रु समझने के जो कारण होते हैं कहीं दूसरा कारण विचारों का संघर्ष होता है और कभी स्वार्थ का। जब दूसरा व्यक्ति भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित करता है तो विचारों का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इसे दूर करने के लि अनेकान्त दृष्टि का तकाजा है कि हम अपने विचारों को जितना महत्त्व देते हैं उतना ही दूसरों के विचारों को भी देना चाहिए सहानुभूतिपूर्वक विचार करने पर दूसरे का दृष्टिकोण समझ आ जाएगा। सत्य के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा विचारों का अहंकार है। धर्म उसी को मिटाना कहता है और इससे अर्थात स्वार्थों के संघर्ष को भी मिटा देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को महत्त्व देता है। यदि वह दूसरे के स्वार्थ को भी उतना महत्त्व देना सीख जाए तो संघर्ष न रहे। इन बातों को समझ विचारों में समता और व्यवहार में समता करना आएगा।

इसके उपशमनीय विकास के लिए सर्वमैत्री पर बल दिया गया है। शत्रुता की भावना होने पर जो बात अप्रिय लगती है वही मित्रता की भावना आने पर प्रिय बन जाती है माता स्वयं भूखी रहकर सन्तान की भूख मिटाना चाहती है पुत्र को खिलाकर जिस आनन्द का अनुभव करती है स्वयं खाने में नहीं आता। वही माता किसी दूसरी स्त्री की सन्तान को देखकर ईर्ष्या से जलने लगती है। साधारणतया अपनी सन्तान सुख का कारण होती है और दूसरे की सन्तान दुःख का कारण

शुरू। यदि किसी कारण उसके साथ भी कौटुम्बिक संबंध जुड़ जाता है तो वह भी सुख का कारण बन जाता है। जो लम्बी घबराहट और बुरी जान पड़ता है सगाई होने पर उसीका प्रत्येक व्यवहार मधुर लगने लगता है। इस दृष्टिकोण को जैनपरिभाषा में मोह कहा गया है। जब ज्यों ज्यों कम होता है चरित्र की उच्च भूमिकाएं प्राप्त होती जाती हैं।

जैनधर्म में साधकों की चार श्रेणियां हैं। सम्यक् दृष्टि, श्रावक, साधु और केवली। जो व्यक्ति एक वर्ष से अधिक मनोमालिन्य रखता है वह मिथ्यादृष्टि है और साधक की श्रेणी में नहीं आता। जो व्यक्ति चार मास से अधिक समय तक मनोमालिन्य रखता है वह श्रावक नहीं हो सकता। जो पन्द्रह दिन से अधिक रखता है वह साधु नहीं हो सकता। केवली में वह सर्वथा समाप्त हो जाता है।

पर्युषण जैनधर्म का सबसे बड़ा पर्व है। वर्ष में एक बार आने के कारण इसे संवत्सरी भी कहा जाता है। उस दिन प्रत्येक जैन से आशा की जाती है कि मन का मैल धो डाले और सबके साथ मित्रता का संबंध जोड़ ले।

यही आत्मशुद्धि के अनुष्ठान को प्रतिक्रमण कहा जाता है। इसका अर्थ है मुड़कर देखना अथवा आत्मनिरीक्षण। मुनि के लिए इसको प्रतिदिन दो बार करने का विधान है। रात्रि में होने वाले दोषों के लिए सूर्योदय से पहले प्रतिक्रमण किया जाता है और दिन में होने वाले दोषों के लिए सूर्यास्त होने पर। पन्द्रह दिन

बाद किए जाने वाले प्रतिक्रमण को पाक्षिक और चार महीनों बाद किए जाने वाले को चातुर्मासिक कहा जाता है। संवत्सरी के दिन वार्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रत्येक प्रतिक्रमण के अंत में नीचे लिखे शब्दों में मित्रता की घोषणा की जाती है—

खामेमि सव्व जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ।।

मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूं सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरी सब प्राणियों से मित्रता है किसी से वैर नहीं है।

साधना की दृष्टि से जैनधर्म तत्त्व का विभाजन नौ तत्त्वों में करता है। इनमें से प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव विश्व के घटक हैं। शेष सात जीव की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(३) पुण्य—शुभ कार्य
(४) पाप—बुरे कार्य
(५) आस्रव—आत्मा को कलुषित करने वाली प्रवृत्तियां ये पांच हैं

१ मिथ्यात्व दृष्टि का विपरीत होना।
२ अविरति अनुशासनहीनता।
३ प्रमाद असावधानी।
४ कषाय क्रोध मान, माया और लोभ।
५ योग मन वचन काय की प्रवृत्तियाँ।

(६) बन्ध—आस्रव के कारण होनेवाली आत्मा की मलीनता।

(७) संवर—आस्रव को रोकना।

(८) निर्जरा—तपस्या द्वारा संचित मल को दूर करना।

(९) मोक्ष—आत्मा की शुद्ध अवस्था।

दर्शन

दार्शनिक विचारधाराओं का पर्यालोचन करने पर हमारे सामने दो दृष्टियाँ आती हैं। प्रथम दृष्टि वस्तुओं में एकत्व का दर्शन करती है। विभिन्न परिवर्तनों और भेदों के होने पर भी उसका ध्यान ऐसे तत्त्व पर जाता है जो सबमें अनुगत है। इस दृष्टि को सामान्यग्राही अभेद अथवा एकत्व दृष्टि कहा जाता है।

उदाहरण के रूप में दो व्यक्ति उद्यान में जाते हैं। उनमें से एक फूल और काँटों को देखता है। फूलों का ग्रहण करना चाहता है और काँटों से कतराता है। दूसरा उस बाग को आ देखता है जो फूल और काँटे दोनों रूपों में अभिव्यक्त हुआ। प्रथम अपनी भावनाओं के अनुसार एक को पसन्द और दूसरे को नापसन्द करता है। द्वितीय उस महासत्ता का दर्शन करता है जो अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी रूपों में प्रकट होती है। प्रथम ने एक दिन कलियों को देखा, दूसरे दिन फूल को और तीसरे दिन मुरझाई हुई पंखुड़ियों को। वह इस परिवर्तन को स्वाभाविक मानकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि दुनिया में कोई वस्तु स्थायी नहीं है। परिवर्तन अस्तित्व का अनिवार्य तत्त्व है। दूसरा व्यक्ति भूमि को देखता है जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष, गुल्म एवं लताएँ उत्पन्न होती हैं। अन्त में अन्त में सबकी मिट्टी एक समान होती है। विनाश के पश्चात् सभी रूपान्तर एक हो जाते हैं। यही वास्तविक सत्ता है। बीच की अवस्था क्षणिक विभ्रम है।

इन दो दृष्टियों के मध्य में आंशिक भेदाभेद को लेकर अनेक दृष्टियाँ विकसित हुईं। राजनीतिक परिभाषा में इन्हें क्रमशः समाजवादी तथा व्यक्तिवादी दृष्टियाँ कहा जायगा।

जैनदर्शन इन्हीं दृष्टियों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के रूप में प्रस्तुत करता है। नय शब्द संस्कृत की नी धातु से बना है। इसका अर्थ है प्राप्त कराना। वे सिद्धान्त या दृष्टियाँ जो हमें लक्ष्य तक पहुँचाती हैं नय कही जाती हैं।

सामान्यप्रधान अथवा सामाजिक होता है तो उसे द्रव्यार्थिक कहा जाता है और जब वयक्तिक अथवा विकासप्रधान तो उसे पर्यायार्थिक। दोनों का समन्वय ही अनेकान्त है।

भेदाभेद का पर्यालोचन चार अपेक्षाओं को लेकर किया जाता है—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। द्रव्य का अर्थ है मूल वस्तु। भाव का अर्थ है गुण अथवा अवस्था। देश और काल क्रमशः स्थानकृत और समयकृत भेदाभेद को प्रकट करते हैं।

अभेदपरक व्याख्या परम्पराओं में प्रथम स्थान अद्वैत वेदान्त का है। यह विश्व के मूल में एक ही सत्ता का प्रतिपादन करता है जो समस्त भेदों में व्याप्त है। उपनिषदों में उसका वर्णन एकमेवा द्वितीयम् के रूप में आया है। शंकराचार्य का कथन है कि तीन पद तीन भेदों का निराकरण करते हैं। एक पद सजातीय भेद का निराकरण करता है अर्थात् ब्रह्म एक ही है। एव पद विजातीय भेद का निराकरण करता है अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अद्वितीय पद स्वगत भेद का निराकरण करता है अर्थात् ब्रह्म अंशरहित है। व्यवहार की दृष्टि से प्रतीयमान भेद मिथ्या है।

उपर्युक्त चार दृष्टियों को लिया जाय तो कहना होगा कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य या सत्ता नहीं है। यह द्रव्य कृत अभेद हुआ। ब्रह्म सर्वव्यापी है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो। यह क्षेत्रकृत अभेद हुआ। वह शाश्वत है। यह काल कृत अभेद हुआ। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, साथ ही वह निर्गुण है यह भावकृत अभेद हुआ।

वेदान्त के अनुसार प्रत्येक प्रतीति में पाँच अंश रहते हैं—सत्ता, ज्ञान, सुख, नाम और रूप। इनमें से प्रथम तीन वास्तविक हैं और अंतिम दो अवास्तविक। प्रथम तीन समस्त वस्तुओं में समान हैं। वे ब्रह्मरूप हैं। अंतिम दो भेद पर आधारित हैं और माया रूप हैं।

इसके पश्चात् सांख्यदर्शन आता है। उसने विश्व में मूल में दो तत्त्वों का प्रतिपादन किया—प्रकृति और पुरुष। पुरुष अनेक हैं। इस प्रकार द्वैत और बहुत्व भेद मान लिया। किंतु प्रत्येक पुरुष नित्य, सर्वव्यापी, निर्गुण तथा परिवर्तनरहित है, इस प्रकार अन्य तीन भेदों का निराकरण कर दिया। प्रकृति एक ही है। उसमें प्रथम भेद नहीं है। वह व्यापक और शाश्वत है। इसमें देश और कालकृत भेद भी नहीं है, किन्तु सगुण और परिवर्तनशील है। अतः इसमें भावकृत अभेद नहीं है। पुरुष में केवल वस्तुकृत भेद है और प्रकृति में केवल भावकृत।

न्यायदर्शन विश्व का विश्लेषण सात पदार्थों के रूप में करता है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इनमें से प्रथम तीन की वास्तविक सत्ता है। शेष चार उन्हीं की व्याख्या करते हैं। गुण और कर्म द्रव्य में रहते हैं। द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। प्रथम चार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं परमाणु रूप और अवयवीरूप। परमाणु नित्य होता है और अवयवी अनित्य। आकाश, काल, दिशा और आत्मा व्यापक एवं नित्य हैं। प्रथम तीन एक हैं और आत्मा अनन्त। मन अणुपरिमाण नित्य और

अभेद है।

पृथ्वी आदि चार इन्द्रियों में विचार करने पर ज्ञान भिन्न नित्य निरन्तर है। इस दृष्टि से न्याय दर्शन भेदवादी है। जहाँ तक अवान्तर भेद का प्रश्न है आकाश काल और दिशा में एकत्व का प्रतिपादन करता है शेष में अनेकत्व का। देश की दृष्टि से आकाश काल दिशा और आत्मा में अभेद का प्रतिपादन करता है शेष में भेद का। काल की दृष्टि से अन्तिम पाँच तथा प्रथम चार द्रव्यों के परमाणु को लेकर अभेद का प्रतिपादन करता है। प्रथम चार द्रव्यों के अवयवों को लेकर भेद का। गुणकृत तथा अवस्थाकृत भेद सभी द्रव्यों में मानता है।

वैशेषिक अभेद तथा भेद की व्याख्या के लिए सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थों का प्रतिपादन करता है। सामान्य का ही दूसरा नाम जाति है। मनुष्यत्व जाति समस्त मनुष्यों में एकत्व का दर्शन कराती है। भेद का प्रतिपादन अवयवों तथा विशेष को लेकर किया जाता है। एक घट दूसरे घट से भिन्न है क्योंकि दोनों के कपाल भिन्न हैं। दो कपालों में परस्पर भेद कपालों के अवयवों के कारण है। इस प्रकार परमाणु पर पहुँच जाते हैं। जब पूछा जाता है एक परमाणु दूसरे परमाणु से क्या भिन्न है? तो उसका उत्तर है विशेष। इसी प्रकार आत्मा आकाश आदि जो नित्य हैं उनमें भी परस्पर भेद का कारण विशेष है। वैशेषिक अवस्था अथवा गुणों के आधार पर भेद का प्रतिपादन नहीं करता। इस एक कारण को भी इसका आधार नहीं मानता। इसके लिए केवल व्यक्ति अथवा द्रव्य को महत्त्व देता है। अभेद

न्याय या मनुष्यत्व गोत्व आदि जातियों का प्रतिपादन करता है किन्तु उनका निरूपण आकृति गुण आदि आधारों को लेकर किया जाता है।

बौद्धदर्शन अन्यापोह है। उनका कथन है कि मनुष्य या घट के रूप में दिखाई देने वाला पदार्थ कोई एक व्यक्ति नहीं है। वह बहुत से अणुओं का पुंज है। प्रत्येक अणु दूसरे अणु से विलक्षण और क्षणिक है। इस प्रकार द्रव्य शब्द द्वारा तथा चारों दृष्टियों से सामान्य का निराकरण कर दिया।

इसी निराकरण की प्रतिक्रिया के रूप में चार परम्पराएं प्रकट हुईं। सर्वप्रथम सर्वास्तिवाद है। उसने प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक एवं परस्पर भिन्न मानने पर भी गुण और गुणी अथवा धर्म और धर्मी दोनों का अस्तित्व स्वीकार किया। इसी परम्परा का दूसरा नाम वैभाषिक है। दूसरी परम्परा ने धर्मी अथवा द्रव्य का अपलाप कर दिया। उसने कहा — रूप रस आदि गुण अथवा धर्मों की प्रतीति होती है। उनके पीछे किसी गुणी अथवा धर्मी की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। इस सिद्धान्त को धर्मवाद कहा जाता है। इसका प्रतिपादन सौत्रान्तिकों ने किया। तीसरी परम्परा योगाचार की है। उसने कहा— हम घट पट आदि पदार्थों की अनुभूति करते हैं। इसके लिए बाह्य पदार्थ का अस्तित्व आवश्यक नहीं है। स्वप्न में कोई वस्तु नहीं होती फिर भी नाना आकार दिखाई देते हैं। इस परम्परा को साकार ज्ञान अथवा विज्ञानवाद कहा जाता है। इसने धर्म का भी निराकरण कर दिया। चौथी परम्परा शून्यवाद की है। उसने कहा कि वास्तविकता का

गए अनन्त आदि किसी परिभाषा में नहीं रखा जा सकता। इसने ज्ञेय के समान ज्ञान को भी वास्तविक मानने से इनकार कर दिया। इस परम्परा को माध्यमिक कहा जाता है।

वस्तुतः देखा जाय तो नागार्जुन अनेकान्तदृष्टि के ही पक्षपाती हैं। सर्वप्रथम व्यक्तियों में परस्पर भेद किया जाता है। जब व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं तो प्रत्येक अंग एक दूसरे से पृथक हो जाता है। अंगों के भी अंग होते हैं। जब प्रत्येक अंग का खण्डन करने चले जाते हैं तो कहीं अन्त नहीं आता। उनकी दृष्टि अपवाद पर रहती है या किसी वस्तु का विधान सम्भव नहीं। भेद वर्णन स्वरूप का स्थान में निषेध बढ़ा कर रक्खा। अन्त में कहा गया कि उसका प्रतिपादन विधि रूप में नहीं हो सकता। क्योंकि विधि का अर्थ है किसी गुण का स्वीकार करना। उसका प्रतिपादन केवल नेति (यह नहीं है) शब्द द्वारा हो सकता है। बौद्ध परम्परा उसी तथ्य पर शब्द का निराकरण करती हुई पहुंची। शब्द एक वस्तु को दूसरी वस्तु से भेद करता है। वेदान्त ने कहा कि परमतत्त्व अवक्तव्य है। भेद तो पर है अतः कल्पनामात्र है। दूसरी ओर शब्द भी वस्तु में किसी सामान्य तत्त्व को लेकर चलता है। बौद्धों के अनुसार यह सामान्य अथवा एकता निरा कल्पना है। अतः वस्तु का शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता।

धर्म के समान ज्ञान के क्षेत्र में भी जैन समन्वयवादी हैं। उनका कथन है कि भेद और अभेद, अनेकत्व और एकत्व क्षणिकता और नित्यता सभी बातें अपेक्षाभेद से सत्य हैं।

देवदत्त ब्राह्मण जाति के नाते अन्य ब्राह्मणों से जुड़ा हुआ है। बचपन से लेकर वार्धक्य तक अवस्थाओं के आने पर भी व्यक्तित्व की दृष्टि से एक है। दूसरी ओर अन्य ब्राह्मणों से पृथक भी है। इसी प्रकार बालक देवदत्त युवक देवदत्त से भिन्न है।

भगवान् महावीर की इस मान्यता का निरूपण नाना नयों के द्वारा किया जाता है। एक ही व्यक्ति किसी स्त्री का पुत्र है और किसी का पिता। किसी का भाई और किसी का पति। प्रत्येक स्त्री अपनी अपनी दृष्टि को लेकर व्यवहार करती है। साधारण व्यवहार के लिए अपनाई जाने वाली इन दृष्टियों को ही नय कहते हैं।

कुछ दृष्टियाँ शब्द को लेकर चलती हैं और कुछ अर्थ को। कभी वस्तु को देखकर उसके साथ नाम जोड़ा जाता है और कहीं नाम से अर्थ का बोध किया जाता है। उदाहरण के रूप में हम विशेष प्रकार का वाहन देखकर कहते हैं— तांगा आ गया। यहाँ अर्थ के आधार पर नाम जाना गया। दूसरी ओर हम देवदत्त को पुकारते हैं। यहाँ नाम के द्वारा अर्थ का बोध होता है। इन्हीं दृष्टियों को क्रमशः अर्थनय और शब्दनय कहा जाता है।

अर्थ नय तीन हैं। उनमें संग्रह नय सामान्यग्राही है। वह एकत्व की ओर जाता है। व्यवहार नय अनेकत्व की ओर। तीसरा नैगमनय है। यह वास्तविकता से आगे बढ़कर औपचारिक आधारों का भी ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के रूप में

इस विषय विज्ञान का मत बहुत लगता है। शब्दादि का वर्ग। इन उपचारों का आधार नहीं [illegible] होता है [illegible] वचना को भावना नहीं रहती, क्योंकि रूढ़ि।

शब्दनय चार हैं। ऋजुसूत्र साधारण व्यवहार को लेकर चलता है कठोरता नहीं बरतता। उदाहरण के रूप में अध्यापक का अर्थ है पढ़ाने वाला। किन्तु जिस समय वह भोजन कर रहा है ऋजुसूत्र की दृष्टि में उस समय भी अध्यापक है। यहाँ वह व्यवसाय को देखता है तात्कालिक क्रिया को नहीं। शब्दनय पर्याय शब्दों में लिङ्ग वचन आदि के आधार पर भेद मानता है। उसकी दृष्टि में नर और पुरुष एक ही अर्थ के वाचक हैं किन्तु दार और भार्या नहीं। समभिरूढनय व्युत्पत्ति को लेकर दोनों में भी भेद डालता है। एवंभूतनय तात्कालिक अवस्था को लेकर चलता है। यह उसी को अध्यापक कहता जो पढ़ा रहा है। वही व्यक्ति जब सो रहा है या भोजन कर रहा है तो एवंभूत नय की दृष्टि में अध्यापक नहीं है।

प्रस्तुत सात नय केवल उदाहरण हैं। वस्तुतः देखा जाय तो प्रत्येक वस्तु का निरूपण करते समय जितनी दृष्टियाँ सामने आती हैं उतने ही नय हैं।

स्याद्वाद का ही दूसरा नाम अनेकान्त है। इसका पहला अर्थ है—एकान्त का अभाव। अनेकान्त मानता है कि सत्य पर पहुँचने के लिए एकान्त छोड़ना होगा। दूसरा अर्थ है अन्त अर्थात् निर्णयों की अनेकता। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। तदनुसार दृष्टियाँ भी अनेक हो जाती हैं। उत्तरवर्ती काल में उनका निरूपण सप्तभंगी के रूप में किया गया। वह इस प्रकार है—

(१) स्यादस्ति- प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से है।

(२) स्यान्नास्ति --दूसरी अपेक्षा से नहीं है।

(३) स्यादस्तिनास्ति -- जब दोनों अपेक्षाओं को साथ रखा जाय तो है भी और नहीं भी।

(४) स्याद् अवक्तव्य -- यदि दोनों अपेक्षाएं एक साथ रह जाय तो कुछ भी कहना कठिन है।

आगम साहित्य में प्रायः चार भंग ही मिलते हैं। उनके बाद में अवक्तव्य पक्ष को तीन बार और जोड़ा दिया गया।

(५) स्यादस्ति अवक्तव्य

(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य

(७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य

अस्तिनास्ति के समान भेद और अभेद नित्यता और अनित्यता आदि धर्मों का तर्क भी प्रयुक्त भंग किए जाते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र अ० ५। सू० २९) अर्थात् प्रत्येक वस्तु में नया पर्याय उत्पन्न होता है और पुराना पर्याय नष्ट हो जाता है। साथ ही एक स्थिर द्रव्य भी है जो सदा ही अनुस्यूत रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य।

द्रव्य छः हैं। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल। जीव का स्वभाव चेतना है। पुद्गल में रूप रस गन्ध और स्पर्श

रहते हैं। अंग्रेजी में इन दोनों को क्रमशः माइंड (mind) और मैटर (metter) कहा जायगा। धर्म और अधर्म क्रमशः गति और स्थिति में सहायक हैं। आकाश का अर्थ है शून्य और काल समस्त परिवर्तन का कारण है।

जैन धर्म और लोकतन्त्र

राजनीति में एक सीमा पर साम्राज्यवाद है। दूसरी सीमा पर अराजकतावाद। पुरातन मानव छोटे छोटे कुलों में रहता था और उनमें परस्पर युद्ध चलते रहते थे। सारा अधिकार नेता अथवा कुलपति के पास होता था। वही धर्मगुरु था, वही राजा और वही पिता। उसकी आज्ञा ही कानून थी। धीरे धीरे सत्ता विकेंद्रित होती गई और संविधान अर्थात् कानून बनाने का काम ऋषिमुनियों के हाथ में आ गया। राजा दंड नायक रह गया। जब दंड उग्र हुआ तो प्रजा ने विद्रोह कर दिया। राजा को मार डाला और अराजकता छा गई। लोकतंत्र एक ओर एकाधिपत्य को रोकता है दूसरी ओर अराजकता को। इसके पाँच मुख्य तत्त्व हैं—

(१) *मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता*
(२) स्वतन्त्रता
(३) समता
(४) न्याय
(५) मित्रता

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता

प्राचीन समय में देवता, शास्त्र, परम्परा, क्रियाकाण्ड आदि के रूप में प्रत्येक क्षेत्र पर अनावश्यक तत्त्व छाए हुए थे और मनुष्य उनके नीचे दबा जा रहा था। धर्म के क्षेत्र में ईश्वर तथा देवताओं के नाम पर अतीन्द्रिय शक्तियों की कल्पना की गई और बुद्धिगम्य न होने पर भी मानने को विवश किया गया। पुस्तक-विशेष को महत्त्व देकर विचारशक्ति को कुण्ठित करने का प्रयत्न किया। मानव से कहा गया अपनी बुद्धि से न सोचकर पुस्तक की आज्ञाओं को अक्षरशः प्रमाण मानें। इतना ही नहीं उस पुस्तक की व्याख्या का अधिकार भी वर्गविशेष ने अपने हाथ में ले लिया। नीरस कर्मकाण्ड का जाल रचकर हृदय को कठोर बना दिया गया। हिंसा धर्म का अंग बन गई और उसके विरुद्ध मन में उठने वाली करुण प्रतिक्रिया को नास्तिकता कहा गया। सत्य, अहिंसा आदि नैतिक नियमों की उपेक्षा होने लगी। धर्म शारीरिक क्रियाओं तक सीमित हो गया। उसका हृदय के साथ सम्बन्ध टूट गया।

सामाजिक क्षेत्र में वर्णभेद, लिंगभेद आदि के रूप में मनुष्य और मनुष्य के बीच विषमता की दीवार खड़ी हो गई। पैदा होते ही एक व्यक्ति पूज्य और दूसरा घृणास्पद मान लिया गया। गुण न होने पर भी एक का सत्कार होने लगा और दूसरे का गुण होने पर भी तिरस्कार। उसे विकास के समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इतना ही नहीं उसके लिए इस प्रकार की

चेष्टा या आकांक्षा को भी भयंकर अपराध समझा गया। शूद्रों
के भी आध्यात्मिक अधिकार छीन लिए गए।

थी। दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग था। दिन रात परिश्रम कर पर भी उसका कोई अधिकार न था। मजदूर की संतान भी विवश होकर मजदूर बनना पड़ता था।

लोकत्र में मानवता का दमन करने वाले इन तत्वों समाप्त कर देना चाहता है। धर्म के क्षेत्र में उसका कथन कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में परमात्मा है। वह स्वयं अप उद्धारक है और स्वयं अपना पालक। वह अपने ही पुरुषा द्वारा ऊपर उठ सकता है। दूसरी कोई शक्ति न उसे गि सकती है और न उठा सकती है। देवताओं के सामने हाथ ज कर गिड़गिड़ाने वाले मनुष्य को उसने कहा– अपने पुरुषा द्वारा आत्मशक्ति का विकास करो। फिर देवता तुम्हारे च चूमेंगे। धर्म वास्तव्य का विवेक करने के लिए उसने कहा- अपनी अंतरात्मा से पूछो। जो बात तुम्हें बुरी लगती है दूसरे को भी बुरी लगेगी। उसका आचरण विषमता है और पाप है। इसके विपरीत जितना समता की ओर बढ़ोगे उत ही धर्म है। इसके लिए किसी दूसरे पर अंधविश्वास करने आवश्यकता नहीं। समता के सिद्धांत को लेकर बढ़ते चले जाओ अहिंसा सत्य आदि नैतिक नियम उसीका विस्तार हैं। समता जहां पूर्ण होती है उसका नाम मोक्ष है।

महान् दार्शनिक ब्रडले का कथन है कि मनुष्य उद्देश्य है अ समस्त व्यवस्थाएं तथा विधाएं विधेय। सौ विधेयों का मह भी एक उद्देश्य जितना नहीं होता। समस्त व्यवस्थाएं मनु

लिए हैं मनुष्य उनके लिए नहीं है। जो व्यवस्थाएं मनुष्य को दबाती हैं उसके विकास को रोकती हैं व उपास्य के स्थान पर स्वयं आ जाती है। प्रगति के स्थान पर ह्रास का रूप ले लेती हैं। मनुष्य एक का अंक है और व्यवस्थाएं उसके पीछे लगने वाले बिन्दु। बिन्दु का मूल्य तभी तक है जब तक वह अंक के साथ जुड़ी है उसके अलग होने पर उसका कोई मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार जो व्यवस्था मनुष्य को छोड़कर चलती है वह ईश्वर शास्त्र परम्परा आदि किसी कल्पित या वास्तविक तत्त्व की दुहाई दे मानव से अधिक मूल्य नहीं रखती।

भगवान ने सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों स्तरों पर मनुष्य की महत्ता का प्रतिपादन किया। सुखप्राप्ति एवं दुःखों से छुटकारे के लिए देवताओं के चरणों पर गिरनेवाले मानव से उन्होंने कहा— मानव तू उनसे उच्च मित्र है बाहर किसे खोज रहा है। अपने को गिराना और ऊंचा उठाना तेरे हाथ में है। आत्मा ही सुख दुःखों का कर्ता है। अपना भविष्य बनाना और बिगाड़ना इसी के हाथ में है। आत्मा ही कामधेनु और नन्दनवन है। आत्मा ही वैतरणी और कूटशाल्मली है।'

उसने यह भी कहा—जो व्यक्ति धर्माचरण करता है वह देवताओं से भी ऊंचा है। देवता उसके चरणों में सिर झुकाते हैं। इस प्रकार एक ओर देवताओं की पराधीनता पर प्रहार किया। दूसरी ओर चरित्रसम्पन्न मनुष्य को देवताओं से भी श्रेष्ठ बताया।

वैदिक परम्परा में वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म की आक मानी गई है। वैष्णव परम्परा में इसका आधार [illegible] की प्रसन्नता है। दोनों परम्पराएं वैषम्य का समर्थन करती हैं। जैनधर्म ने उनके स्थान पर समता को रखा। भगवान् महावीर ने कहा—जब तुम किसी को मारने या सताने जाते हो, उसके जगह अपने को रखकर देखो। यदि वह व्यवहार तुम्हें अप्रि है तो दूसरे को भी अप्रिय होगा। यदि तुम चाहते हो कि व [illegible] तुम्हारे साथ न किया जाय तो तुम भी दूसरे के सा मत करो। समता के इसी सिद्धान्त का विकास अहिंसा सत् आदि व्रत एवं आचारनियमों के रूप में हुआ।

भगवान् महावीर ने कहा कि कोई व्यक्ति जन्म से छोटा या बड़ा नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विभिन्न कर्मों द्वारा उत्पन्न हैं। उनके संघ में अनेक साधु जन्म से अन्त्यज अथवा चाण्डाल थे। कुछ पूर्वावस्था में डाकू, चोर, हत्यारे अथवा अन्य प्रकार से अपराधजीवी थे। किन्तु त्यागवृत्ति अपनाने पर सभी पूज्य हो गए। हरिकेशी जन्मना चाण्डाल थे। अर्जुन माली हत्यारा था। रोहिणेय चोर था। उनके तृतीय पट्टधर प्रभवस्वामी पूर्वावस्था में डाकू थे। चन्दनबाला, मृगावती आदि बहुत सी नारियाँ भी संघ में सम्मिलित थीं। जब ये प्रव्रज्या ग्रहण करके वे भी नमस्कार के [illegible] हो गए।

भगवान् महावीर ने धर्म व्यवस्था के क्षेत्र में निष्पक्ष न्याय का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—राजा हो या रंक, ब्राह्मण

हो या शूद्र स्त्री हो या पुरुष, दुराचरण करने पर प्रत्येक को दुख भोगना होगा। हिंसा, असत्य चोरी आदि पापों द्वारा व्यक्ति स्वयं दंड का भागी बनता है।

प्राचीन समय में राजा को ईश्वर का अवतार अथवा अंश माना गया। फलस्वरूप उसे शासक के अतिरिक्त आदर्श भी मान लिया गया। यह आदर्श भोग एवं परिग्रह की पूजा थी। जैनधर्म ने उसके स्थान पर त्याग एवं अपरिग्रह को प्रतिष्ठित किया। उसने कहा इन्द्रियलोलुप से संयमी ऊंचा है। भोगी से त्यागी और परिग्रही से अपरिग्रही। अकिंचन साधु चक्रवर्ती राजा का भी वन्दनीय है। त्यागी के सामने सम्राटों के सिंहासनों और मुकुटों का कोई मूल्य नहीं है।

जैनधर्म त्यागी संस्था को सर्वोच्च मानता है किन्तु श्रावक चर्या के रूप में गार्हस्थ्य को भी स्वीकार करता है। श्रावक के जीवन में त्याग और भोग का समन्वय होता है। दृष्टि त्याग पर रहती है किन्तु भोग का लोप नहीं आता। अपने पांचवें और छठे व्रत में श्रावक संपत्ति एवं शोषण क्षेत्र की मर्यादा करता है। समाजवाद इस मर्यादा को ऊपर से लादना चाहता है। जैन धर्म इसी को स्वेच्छापूर्वक अपनाने के लिए कहता है। राजकीय आज्ञा के रूप में लादी गई मर्यादा [illegible] है और वही स्वेच्छापूर्वक अपनाई जाने पर [illegible]।

लोकतंत्र का दूसरा तत्त्व स्वतंत्रता है। इसके दो रूप हैं— साध्य स्वतंत्रता और साधन-स्वतंत्रता। [illegible]

है समस्त बाह्य बंधनों से मुक्ति। जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का उत्पीडन नहीं कर सकता। राष्ट्र समाज आदि का कोई बंधन नहीं रहता। धर्मसंस्था शरीर का भी बंधन मानती है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में उससे भी मुक्ति मिल जाती है।

साधन के रूप में स्वतन्त्रता का अर्थ है गुलामी से छूटने का अभ्यास। धर्म की दृष्टि में यह गुलामी इच्छा की है। हम जिस वस्तु से राग करते हैं उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है जिससे द्वेष करते हैं उसे छोड़ने की इच्छा होती है। इन्हीं के कारण अज्ञात और विविध प्रकार के बंधनों में फंसे रहते हैं। धर्म इच्छा के इस बंधन से मुक्त होने की साधना है। व्यक्ति ज्यों ज्यों इस पर विजय प्राप्त करता है आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है। इसी विकास को विविध श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। जैनधर्म इसे १४ गुणस्थानों में विभक्त करता है।

बंधन के कारणों के रूप में जैन धर्म पांच बातें उपस्थित करता है—

(१) मिथ्यात्व—दृष्टि का विपरीत होना। जहाँ व्यक्ति अपने स्वरूप को नहीं पहचानता।

(२) अविरति—अनुशासनहीनता। जिसका अर्थ है दूसरे के प्रति वैमनस्यपूर्ण व्यवहार।

(३) प्रमाद—असावधानी। उन्नतिशील व्यक्ति को सदा सावधान रहना चाहिए और पतन की ओर ले जाने वाली भूलों से बचना चाहिए।

(४) कषाय—क्रोध अहंकार आदि मनोवेग जो विषमता की ओर ले जाते हैं।

(५) अशुभयोग—मन वचन और शरीर की अनुचित प्रवृत्ति।

जैनधर्म स्वतन्त्रता को दो रूपों में उपस्थित करता है। एक ओर उसका कथन है कि अपना जीवन ऐसा बनाओ जिसमें दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण न हो। इसी का दूसरा नाम अहिंसा है। दूसरी ओर उसका कथन है कि ऐसी सब वस्तुओं को छोड़ते जाओ जो जीवन को पराधीन बनाती हैं। जो वस्तु अपनी नहीं है उसका सहारा और ममत्व छोड़ दो। इसी का दूसरा नाम अपरिग्रह है। अहिंसा द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए कहता है और अपरिग्रह राग पर। अन्य सब बातें इन्हीं का विस्तार हैं। जो व्यक्ति इनपर विजय प्राप्त कर लेता है उसे वीतराग कहा जाता है। यही अवस्था जैनसाधना का चरम लक्ष्य है। जिसे समता की साधना द्वारा प्राप्त किया जाता है।

समता

लोकतन्त्र का तीसरा तत्त्व समता है। समता का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता तथा परिश्रम द्वारा ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँचने का अधिकार है। प्रत्येक बालक राष्ट्रपति हो सकता है। दूसरी ओर कुल, जाति, लिंग या प्रान्त के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति में कोई भेद नहीं है। स्वतन्त्रता [redacted] अर्थ

है—प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र होकर विकास करने का अधिकार। प्राचीन समय में जाति धर्म आदि के नाम पर अनेक व्यक्तियों को विकास के अधिकार से वंचित रखा गया। गुलाम की सन्तान को विवश होकर गुलाम बनना पड़ा। ऐसा न करने पर उसे राजकीय दंड मिलता था। यूरोप के न्यायालयों में ऐसे अभियोग आते थे जहाँ झाड़ू न लगाने, टट्टी साफ न करने या गुलामी न करने के कारण व्यक्तिविशेष को दंड दिया गया। भारत में शूद्र का बालक यदि वेद का उच्चारण कर लेता था तो उसके लिए जिह्वाछेद का दंड था। लोकतन्त्र इन विषमताओं और गुलामियों को समाप्त कर देना चाहता है। लक्ष्य एक होने पर भी साम्यवादी राष्ट्र समता को मुख्यता देते हैं। उनका कथन है कि जहाँ एक दरिद्र है और दूसरा सम्पन्न, एक अभाव पीड़ित और दूसरा विलासिता में डूबा हुआ, वहाँ दोनों का विकास रुक जाता है। एक का अभाव के कारण विकास की सुविधाएँ नहीं मिलतीं, दूसरा उनका दुरुपयोग करता है। अतः प्रगति के लिए समस्त मानवता को एक ही स्तर पर लाना आवश्यक है। उनकी यह भी धारणा है कि इस विषमता का मुख्य कारण सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार है। इसी के द्वारा और शोषण किया एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अत्याचार करता है। इसीलिए उन्होंने सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया।

दूसरी ओर पूँजीवादी राष्ट्र स्वतन्त्र उद्योग को महत्व देते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताएँ पूर्ण होनी चाहिए। प्रत्येक को भोजन, वस्त्र तथा रहने की

सुविधा मिलनी चाहिए। इन आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर आगे के क्षेत्र स्वतन्त्र प्रतिभा एवं परिश्रम के विकास के लिए छोड़ देना चाहिए। शासनव्यवस्था किसी को कवि, दार्शनिक धर्मात्मा या कुशल कलाकार नहीं बना सकती। इसके लिए ऐसा क्षेत्र आवश्यक है जहाँ किसी प्रकार का प्रतिबंध न हो। इस विकास के बिना मानव मानव ही न रहेगा। वह पशु की भूमिका पर आजाएगा।

साम्यवाद मनुष्य के बाह्यरूप को अधिक महत्त्व देता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बुद्धि तथा हृदय पर नियन्त्रण का बुरा नहीं मानता। दूसरी ओर पूंजीवाद आभ्यन्तर गुणों को भी उचित प्रश्रय देना चाहता है।

जैनधर्म में समता के दो रूप हैं—साध्य समता और साधन समता। साध्य समता का अर्थ है वह स्थिति जहां सब एक दूसरे के समान हैं। न कोई शासक है और न शोष्य। न बड़ा है न छोटा। न भक्त न भगवान। इसी अवस्था को मोक्ष कहा जाता है। जनसाधना इसी लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न है। जिसे साधन-समता कहा जा सकता है। सब प्राणियों से मित्रता और सबके प्रति समान बुद्धि के जनसाधना का केन्द्रबिंदु है। वह ज्यों-ज्यों जीवन में उतरती है मनुष्य ऊपर उठता जाता है। भक्त भगवान बनता चला जाता है। अन्तिम अवस्था में सभी भगवान् बन जाते है। उपासक और उपास्य का भेद नहीं रहता।

जनधर्म वर्ण जाति लिंग आदि के रूप में किसी वैषम्य

का स्वीकार नहीं करता । इन आधारों पर न किसी को विशेष सुविधा दी जाती है और न किसी अधिकार से वंचित किया जाता है । जनसंघ व्यवस्था में चार तीर्थ माने गए हैं—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका । इसका अर्थ है स्त्री को भी पुरुष के समान विकास करने का पूरा अधिकार था । मुनिसंघ में वर्ग से ऐसे लोग थे जो जन्मना चण्डाल या तथाकथित नीच वर्ण के थे । कई पूर्वावस्था में घोर डाकू, हत्यारे या अन्य प्रकार के अपराधजीवी रहे हैं । भावना बदलने पर वे सब संत हो गये और वन्दनीय बन गये । उनकी गणना उन साधु पदों में होने लगी जिन्हें प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में वन्दना की जाती है जो जीवन के उच्चतम आदर्श को उपस्थित करते हैं ।

जनधर्म में उपास्य के रूप में जिन पांच तत्त्वों की वन्दना की जाती है वे भी गुणों के विकास को प्रकट करते हैं । वहां किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिया गया । प्रत्येक व्यक्ति विकास द्वारा उन पदों को प्राप्त कर सकता है और वन्दनीय बन जाता है ।

न्याय

लोकतन्त्र का चौथा तत्त्व न्याय है । न्याय का अर्थ है—नागरिक की दृष्टि में एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के समान होना । दोनों पर समान उत्तरदायित्व समान सुविधाएं और अपराध के लिए एक-सा दंड । वहाँ यह माना जाता है कि अपराधी सामाजिक व्यवस्था को तोड़कर अपने को स्वयं उन अधिकारों से वंचित करता है जो उसे निर्दोष नागरिक के रूप में प्राप्त होने चाहिए ।

व्यवस्था में अधिकार देने का प्रश्न ही नहीं है। किन्तु सभी मानसिक विकास व्यवस्था करते हैं और उनके द्वारा सुविधायें प्राप्त करते हैं। व्यवस्था का मानने वाला व्यक्ति या तो होने वाली सुविधा या अधिकार का दावा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से विधान को विषमता का समर्थन नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत वह समता का स्पष्ट है।

अन्तर्गत प्रकार का कर्मव्यवस्था के रूप में प्रकट करता है। उसका कथन है कि दूसरे के प्रति अत्याचार करने वाला अपनी आत्मा को कलुषित करता है। यह कालुष्य ही उसके लिये दुःखों का कारण बन जाता है। ऊपर से नियंत्रण करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है। जो व्यक्ति आकाश की ओर थूकेगा उसके सिर पड़ेगा। उसे गिराने वाला कोई दूसरा नहीं है यह अपने ही कर्म का फल है। धूप में अपथ्य पर का भोजन करने वाला व्यक्ति तथा अन्य रोगों से घिर जाता है। उसे कोई दूसरा व्यक्ति रोगी नहीं बनाता। इसी प्रकार हम स्वयं अपनी आत्मा को कलुषित करते हैं और फलस्वरूप कष्ट भोगते हैं। यह शाश्वत नियम है। राजा और रंक, बलवान और दुर्बल, धनवान और दरिद्र, कोई इससे छूट नहीं सकता।

भिन्नता

जैनदर्शन का चौथा किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व भिन्नता है। उसका कथन है कि आत्मिक समानता होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी मनुष्य विकास के एक स्तर पर हैं।

कोई भी राज्य-व्यवस्था सबको एकसी बुद्धि, एकसा हृदय तथा एकसा शरीर नहीं दे सकती। इस विषमता के होने पर भी यदि व्यवहार मित्रतापूर्ण है तो हम परस्पर बाधक के स्थान पर पूरक बन जायेंगे। बुद्धिजीवी श्रमजीवी की आवश्यकता को पूर्ण करेगा और श्रमजीवी बुद्धिजीवी की। इस दृष्टि के बिना कोई व्यवस्था समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती।

अर्थव्यवस्था

आर्थिक संतुलन को कायम रखने के लिए दो प्रयोग किए जा रहे हैं। एक ओर साम्यवादी राष्ट्र-सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार को समाप्त कर रहे हैं। उनका कथन है कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम लेगा। साथ ही उसकी आवश्यकताएं पूर्ण करेगा। इससे न कोई अधिक संग्रह कर सकेगा और न कोई भूखा रहेगा। पूंजीवादी राष्ट्रों का कथन है कि भूख या आवश्यकता व्यक्ति को पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करती है उसकी अनायास पूर्ति हो जाने पर मनुष्य पुरुषार्थ हीन हो जाएगा। अतः राज्य का आरम्भ उतना ही प्रयत्न होना चाहिए जहां किसी की प्रतिभा या कार्यशक्ति को अनुचित रूप से दबाया जा रहा हो या उचित सुविधाएं न मिलने के कारण विकास रुका हुआ हो। इसके विपरीत जहां किसी मौलिक आवश्यकताओं पर आघात नहीं होता उस क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए।

अणुव्रत दोनों धाराओं का समन्वय व्यक्ति के जीवन में करता

। बताया गया है कि उसे मर्यादित तथा आवश्यक होने की मर्यादा स्वेच्छापूर्वक करना चाहिए । आवश्यक का आशय यह मर्यादित भी है न कि बढ़ता है और इसे आवश्यक देख की मर्यादा कर लिया। के साथ सातवें व्रत में व्यक्तिगत जीवन के साथ आवश्यकी गुणों का वर्णन बताई गई है । इस प्रकार आवश्यक त्यागों को स्वेच्छापूर्वक रखना है । अभ्यास का कथन है कि ऊपर से लादी मर्यादा पाले आप में लिया है। वह स्वयं पोषण बन जाती है। इसके विपरीत जब उसे स्वेच्छापूर्वक अपनाया जाता है तो त्याग न जाती है । हिंसा में यदि व्यक्ति यह निश्चय भी करता तो वह अपाय हो जाता है । दूसरी ओर स्वेच्छापूर्वक सब कुछ छोड़ देना उत्तम धर्म है । हिंसा में प्राण देना आत्महत्या और सबसे बड़ा पाप है । स्वेच्छापूर्वक प्राण देना आत्मबलिदान और सबसे बड़ा त्याग है ।

समाजव्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है— (१) हिंसामूलक (२) विनिमयमूलक और (३) समर्पण ।

हिंसामूलक व्यवस्था में हमारी दृष्टि अपने अधिकार पर रहती है और दूसरे का अधिकार छीन कर भी स्वार्थपूर्ति करना चाहता है। वहाँ एक शासक होता है और दूसरा शोषित, एक शासक दूसरा शास्य। एक ओर अहंकार छाया रहता है और दूसरी ओर भय। दोनों वर्ग एक दूसरे को अपना शत्रु मानते हैं और अपना मानक

रहते है, कोई शांति से नहीं बैठ सकते । अत्याचारी को भय ला रहता है कि कहीं विद्रोह न हो जाए फलस्वरूप वह उत्तरोत्त क्रूर होता जाता है । दूसरी ओर सवसाधारण आतंकित रहना और अत्याचारी को समाप्त करने के लिए षड्यन्त्र तथा अन्य उपाय सोचता रहता है ।

व्यापारियों का संबंध विनिमयमूलक होता है । यहाँ ए वस्तु देकर दूसरी प्राप्त की जाती है किंतु दृष्टि मुनाफे पर रह है । जब व्यापारी यह देखता है कि ग्राहक को हर हालत में मा खरीदना पड़ेगा तो वह उसको विवशता से लाभ भी उठाना चाह है । तभी स्थिति में विनिमय हिंसा का रूप ले लेता है । अन्त इतना ही है कि प्रथम प्रकार में प्रत्यक्ष हिंसा होती है और इस अप्रत्यक्ष । वस्तुतः शस्त्र द्वारा मारने और भूख मारने में कि अन्तर नहीं होता । इसके विपरीत जो व्यापारी उचित मुनाफा लेक सवसाधारण की सुविधा का ध्यान रखता है वह तृतीय संबंध ओर बढ़ने लगता है ।

प्रेममूलक संबंध में त्याग की मुख्यता रहती है । माता संतान के लिए अधिक से अधिक त्याग करना चाहती है । स्वयं भूखी रहकर भी उसको भूख मिटाती है । प्रेमी प्रेमपात्र के लि अधिकाधिक त्याग करना चाहता है । इस संबंध में निजी सुख की उतनी चिंता नहीं रहती जितनी प्रेमपात्र के सुख की रहती है ।

जनयम प्रथम प्रकार का संबंध त्याज्य मानता है । द्वितीय प्रकार श्रावक की भूमिका है । वह उल्लंघन करता है अपराधी

को दण्ड भी देता है किन्तु सभा के लिए एक मर्यादा स्थिर कर देता है और उससे आगे नहीं बढ़ता। मुनि भी मर्यादा करता है — इन्द्रिय प्रवृत्तियों की मर्यादा करता है व [illegible] का मर्यादा करता है। दैनन्दिन जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं की मर्यादा करता है। साथ ही यह कहा गया है कि उसका ध्यान सर्वसंयमी की ओर रहना चाहिए। वह भी अपने [illegible] को सर्वथा परिपूर्ण त्याग मानता है और उस ओर यथाशक्ति बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार वह शोषण की ओर से हटकर त्याग की ओर अग्रसर होता है।

मुनि सर्वस्व त्यागी होता है। उसका अपना कुछ नहीं होता। शरीर को भी पराया मानता या व्यवहार करता है। इसके विपरीत जब वह रोगों से घिर जाता है और [illegible] का भी अनुचिन्तन करने लगता है तो मुनि शरीर को भी छोड़ देता है। यह त्यागमूलक सम्बन्ध ही अहिंसा का [illegible] है।

ऊपर आ चुका है कि जैनधर्म [illegible] और वर्णभेद को कोई महत्त्व नहीं देता। वहाँ व्यक्ति [illegible] में परस्पर भेद गुण अथवा योग्यता के आधार पर किया जाता है जन्म के आधार पर नहीं। वर्ग विशेष में उत्पन्न होने से किसी का विकास से वंचित नहीं किया जाता [illegible]

आप में क्या है ? इस प्रश्न की ओर ध्यान नहीं दिया गया। यह अब भी ज्यों का त्यों खड़ा है।

वर्तमान समस्याओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। प्रथम प्रकार है स्वार्थमूलक और दूसरा अहंकारमूलक। अहंकारवृत्ति भी एक स्वार्थ है किंतु यहाँ इसका अर्थ है जीवन की आवश्यकताएँ। हम अपने भोजन निवास आदि के लिए सामग्री एकत्रित करते हैं। जब वह सबको पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती तो संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इसका मुख्य कारण अभाव या वस्तु की कमी है। इसके लिए एक ओर उत्पादन बढ़ाया जा रहा है दूसरी ओर जनसंख्या को नियन्त्रित रखने का प्रयत्न हो रहा है। उत्पादन बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक उपाय खोज रहे हैं और जनसंख्या को नियन्त्रित रखने के लिए कृत्रिम संतति नियमन पर बल दिया जा रहा है। धर्म इन उपायों का विरोध नहीं करता। साथ ही उसका कथन है कि जब तक हमारी मानसिक भावनाएं ठीक नहीं होंगी तब तक बाह्य उपाय सफल नहीं हो सकते। खाद्य सामग्री की कमी होने पर भी हजारों घर ऐसे हैं जहाँ उसे व्यर्थ ही नष्ट किया जाता है। वे इसे रईसी का चिह्न मानते हैं। भूख के कारण उतने आदमी नहीं मरते जितने अधिक भोजन के कारण। इतना ही नहीं अधिक भोजन करने वाला आलसी और अकर्मण्य हो जाता है। भारत में अब भी कई वर्ग ऐसे हैं जो अधिक खाकर पड़े रहना रईसी का चिह्न मानते हैं। खाद्यसमस्या पर भी इसका कम प्रभाव नहीं है।

स्वार्थ का दूसरा रूप संचय है। आवश्यकताओं के लिए निश्चिन्त होने पर भी हम संचय करते चले जाते हैं और मानते हैं कि इसके द्वारा अपनी संतान पर बहुत बड़ा उपकार कर रहे हैं। रूस तथा अन्य देशों में प्रत्येक व्यक्ति को भोजन देना राज्य का उत्तरदायित्व मान लिया गया है। वहां व्यक्ति को अपने अथवा संतान के भविष्य की चिंता नहीं होती किंतु भारत में प्रत्येक व्यक्ति अपने को अरक्षित मानता है इसलिए संचय राष्ट्रीय चरित्र बन गया है। धर्म का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना भाग्य होता है। उसे पुरुषार्थ करना चाहिए। भविष्य को ऊंचा उठाने के लिए परिश्रम करना चाहिए। साथ ही इसकी चिंता भी नहीं करनी चाहिए कि आगे क्या होगा? संग्रह करते समय अपनी तरह दूसरों की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिए। स्वार्थ वैषम्य की ओर ले जाता है और वैषम्य ही पाप है।

अहंकारपूर्ति के लिए भी मनुष्य संचय करता है। हम अपने को दूसरों से बड़ा बताना चाहते हैं इसके लिए विविध प्रदर्शन करते हैं। स्त्री आभूषणों का प्रदर्शन करती है पुरुष ऊंचे मकान तथा सवारियों का। ये प्रदर्शन परस्पर ईर्ष्या को जन्म देते हैं। जो व्यक्ति इनकी पूर्ति वैध उपायों द्वारा नहीं कर पाता वह चोरी डकैती आदि अवैध उपाय अपनाता है। इस प्रकार ये प्रदर्शनकर्ता को ही नहीं समस्त समाज को भ्रष्ट कर डालते हैं।

अहंकार का प्रदर्शन जब वैयक्तिक होता है तो उसे उतना अच्छा नहीं माना जाता। सहृदय व्यक्ति को उसमें संकोच होता

है किंतु सामाजिक रूप ले लेने पर यह सकोच नहीं होता। धर्म के नाम पर मिथ्या प्रदर्शन और मंदिर अभियान हुए खून की नदियाँ बही श्रमजीवी वर्ग का शोषण किया गया इन सब कार्यों को धर्म का सेवा समझा गया। यहाँ वैयक्तिक प्रदर्शनों में होने वाला सकोच मिट गया।

जब अहकार सिद्धान्त का रूप ले लेता है तो उसे पहचानना और भी कठिन हो जाता है। मध्य युग में दूसरों को मोक्ष पहुँचाने के लिए धर्मयुद्ध किए गए। शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी को हराने के लिए छल, जाति, निग्रहस्थान आदि अवैध उपाय बरते गए। दूसरों को अपना अनुयायी बनाने के लिए कामवासनापूर्ण प्रलोभन भी दिये गये।

जैनधर्म दोनों प्रकारों का समाधान समता के आधार पर करता है। व्यवहार के लिए उसका कथन है कि अपने प्राणों को जितना महत्त्व देते हो उतना ही दूसरे के प्राणों को भी देना चाहिए, इसी का नाम अहिंसा है। इसी प्रकार अपनी मान्यताओं को जितना महत्त्व देते हो उतना ही दूसरे की मान्यता को भी देना चाहिए। इसी का नाम अनेकांत है।

वर्गीकरण का दूसरा प्रकार है (१) अन्याय (२) अभाव और (३) अज्ञान। आर्थिक क्षेत्र में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अन्याय कर रहा है।

राजनैतिक क्षेत्र में एक राष्ट्र अथवा दल दूसरे राष्ट्र अथवा दल पर। धार्मिक क्षेत्र में यह अन्याय विचारों के दमन द्वारा किया

जाते हैं। जनसंख्या में प्रचुर [illegible] है। [illegible] पर नियंत्रण लगाया गया अथवा विवाहोत्तर [illegible] इन समस्या से दूर ले जाता है।

अभाव के दो प्रकार हैं—स्वाभाविक और कृत्रिम। अभाव का दूसरा रूप कृत्रिम अभाव है। [illegible] की कमी न होने पर भी [illegible] पूर्ति करने के लिए उनका [illegible] किये जा रहे हैं और उपभोक्ता के लिए [illegible] होने लगा है। इस अभाव का मुख्य कारण [illegible] है। [illegible] भी उप[illegible] इस प्रकार [illegible] करते हैं। उन पर नियंत्रण रखने के लिए [illegible] का [illegible]। इसका भी मुख्य रूप अहिंसा एवं समता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि [illegible] अभाव पर विजय प्राप्त करना विज्ञान का काम है। [illegible] है। जिस व्यक्ति के मन में [illegible] प्रवृत्ति का जाल [illegible] है उस [illegible]। [illegible] भी [illegible] हैं। कृत्रिम भी [illegible] है। वे स्वार्थी तथा अहंकारी [illegible] है और उसमें [illegible] और [illegible] करते हैं कि कोई [illegible] न हो। [illegible] व्यक्ति का [illegible] और [illegible] से उत्तेजित हो उठते हैं। [illegible] है उसमें अहंकार और [illegible] है। [illegible]

सिद्धांत इन सब अहंकारों को समाप्त करने के लिए कहता है उनके कम होने पर अभाव की पीड़ा घट जाएगी ।

धर्म इसके लिए और आगे बढ़ता है । उसका कथन है कि मूर्त शक्ति का आधार आत्मा है । जो बातें उसकी अभिव्यक्ति में सहायक हैं वे उपादेय और शेष हेय । शारीरिक सुविधाएँ अपने आप में लक्ष्य नहीं है उन्हें अन्य साधना के लिए उपलब्ध किया जाता है । आत्मा ऐसा तत्त्व है जहाँ किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हो सकता उसका विकास दूसरे के दमन पर आधारित नहीं है । एक आत्मा के विकास में दूसरे को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रकाश ही मिलता है । उस लक्ष्य में रखने पर संघर्षों का कोई महत्त्व नहीं रहता ।

समस्याओं का तीसरा कारण अज्ञान है । ज्यों ज्यों ज्ञान की वृद्धि हो रहा है बहुत सी समस्याएं सुलझ रही हैं । आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा यात्रा के नाना साधनों ने भौगोलिक दूरी को घटा दिया । अधिक उत्पादन के लिए नए नए प्रयोग किए जा रहे हैं । दूसरी ओर वही ज्ञान नई समस्याएं उत्पन्न कर रहा है । आणविक अस्त्रों के विकास ने मानवजाति का अस्तित्व खतरे में डाल दिया है । इस प्रकार ज्ञान एक ओर वरदान सिद्ध हुआ और दूसरी ओर अभिशाप । उसे मंगलमय बनाना धर्म का काम है । वह बताता है कि शक्ति का उपयोग दूसरे को हानि पहुंचाने में नहीं होना चाहिए । वह शक्ति शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक किसी प्रकार की हो ।

समस्याओं का एक वर्गीकरण [illegible] प्रकृति के साथ है उस पर [illegible] है। दूसरा सम्बन्ध मानवता के [illegible] राजनीति तथा समाजशास्त्र [illegible] है। [illegible] अपने ही अन्दर चलता है और [illegible] नाम है।

वस्तुत: देखा जाय तो सामाजिक [illegible] का बाह्यरूप होता है। जिस समाज के [illegible] अहंकार की मात्रा जितनी [illegible] उतनी ही कम होगी।

वर्तमान विश्व व्यक्तिवाद और [illegible] होता जा रहा है। दोनों धाराओं के [illegible] बढ़ता जा रहा है। [illegible] वातावरण विषाक्त हो गया है [illegible] व्यक्तिवादी द्वारा स्वतन्त्र [illegible] और [illegible] वादी व्यक्ति को समाजरूपी [illegible] है।

वास्तव में देखा जाय [illegible] उचित प्रश्रय मिलना चाहिए। [illegible] पुर्जा है। यदि पुर्जा अपनी [illegible] जाएगा। इसी प्रकार समाज [illegible] सामाजिक उत्तरदायित्व [illegible]।

दूसरी ओर यह स्वतन्त्र [illegible] अनुमतियाँ अपने दृष्टिकोण [illegible] राजन पर बौद्धिक विकास [illegible]।

दैनंदिन जैन अनुष्ठान

षडावश्यक अथवा प्रतिक्रमण

षडावश्यक जैनसाधना का प्रधान अंग है। आवश्यक का अर्थ है वे अनुष्ठान जिन्हें प्रत्येक साधक को नियमित करना चाहिए। उनकी संख्या छः है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

१ सामायिक—

सामायिक का अर्थ है जीवन में समता लाने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान। इसकी व्युत्पत्ति है—समस्य आयः समायः, स प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्। हमारा जीवन विषमताओं से घिरा है। स्व और पर में विषमता, बाह्य और आभ्यन्तर में विषमता, मन, वाणी और कर्म में विषमता, विचार में विषमता, व्यवहार में विषमता इत्यादि। इनके कारण आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता नष्ट हो जाती है और विकार घर कर लेते हैं। इन्हें दूर करने के लिए सर्वप्रथम नए विकारों का रोका जाना है जिसका प्रारंभ सामायिक से होता है। इसका अर्थ है मन, वचन और शरीर की विषमतामूलक प्रवृत्तियों को रोकना। साधु का यह जीवनव्रत होता है और गृहस्थ प्रतिदिन निश्चित समय के लिए स्वीकार

करता है। जैन आचार का मूल अहिंसा है। इसका अर्थ है व्यवहार में विषमता को दूर करना। जैन दर्शन का मूल अनेकान्त है। इसका अर्थ है विचारों के क्षेत्र में विषमता को दूर करना। स्याद्वाद इसी का विस्तार है। कर्म सिद्धान्त सामाजिक विषमता को दूर करता है। उसका कथन है कि सुख दुःख का कारण व्यक्ति स्वयं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भविष्य का स्वयं निर्माता है। जैनधर्म जाति लिंग आदि आधारों पर वैषम्य स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार यह सब सामायिक का ही विस्तार है।

सामायिक अंगीकार करते समय पापपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है। श्रावक इसे दो करण तीन योग से तथा साधु तीन करण तीन योग से करता है। श्रावक निश्चित समय के लिए और साधु जीवन भर के लिए। तीन करण हैं—करना, कराना और अनुमोदन। योग हैं—मन, वचन और शरीर। इन आधारों पर त्याग की अनेक श्रेणियाँ हैं। निम्नतम श्रेणी है—एक करण एक योग अर्थात् अपने शरीर से न करना। इसमें दूसरे से कराने तथा अनुमोदन की छूट रहती है। उच्चतम श्रेणी है—तीन करण तीन योग अर्थात् मन वाणी और शरीर से न स्वयं करना न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इन दोनों के बीच एक करण दो योग, एक करण तीन योग, दो करण एक योग, दो करण दो योग, दो करण तीन योग आदि के रूप में अनेक श्रेणियाँ हैं। शास्त्रों में इनके उनचास प्रकार बताए गए हैं।

से त्याग करता है। गृहस्थ केवल स्थूल हिंसा का त्याग करता है। उसके लिए अनुमोदन का त्याग संभव नहीं। अतः उसका उत्कृष्ट त्याग दो करण, तीन योग से होता है। वहीं वही आज्ञा देने की भी छूट रखता है। ऐसी स्थिति में उसका त्याग एक करण एक योग होता है।

साधारणतया पूछा जाता है कि अपने हाथ से करने और दूसरे से कराने में हिंसा या पाप की दृष्टि से क्या अन्तर है? यद्यपि परिणाम में विशेष अन्तर नहीं है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों स्थितियों में मानसिक क्रूरता एक सी होती है। हम अनेक ऐसी प्रवृत्तियां करते हैं जिनके परिणामस्वरूप दूसरों की हिंसा होती है। यदि वही अपने हाथ से करनी पड़े तो हिच किचा जाएंगे।

सेनापति मेकार्थर ने हिरोशिमा पर अणु बम गिराने की आज्ञा दी और लाखों निरीह भस्म हो गए। यदि वह कार्य उसे अपने हाथ से करना होता तो सम्भवतया हिचकिचा जाता। निर्दोष बालकों और महिलाओं पर प्रहार करते हुए उसका हाथ कांप जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं करने में जितनी क्रूरता अपेक्षित है–उतनी दूसरों से कराने में नहीं है। अनुमोदन में इसकी और भी कमी हो जाती है। जिस व्यापारी का हृदय अपने सामने बैठे अभावग्रस्त याचक को देखकर द्रवित हो जाता है वही अप्रत्यक्ष रूप से सैकड़ों परिवारों की क्षुधा का कारण बन जाता है।

सामायिक में मन वचन और शरीर की कुप्रवृत्तियों का त्याग

किया जाता है। हम इसकी तुलना सध्या और योग से कर सकते हैं। सध्या में साधक मन की चचलता को दूर करके उसे ईश्वर या उसके प्रतीक के रूप में सूर्य पर स्थिर करता है। योग का अर्थ है मन की चित्तवृत्ति का रोकना। समाधि उसी का नामान्तर है जहाँ मन ध्येय में लीन हो जाता है। जैनसाधना मन के साथ वाणी और शरीर के नियत्रण पर भी बल देती है। उसकी धारणा है कि शारीरिक स्थिरता मानसिक स्थिरता की पहली सीढी है। योगशास्त्र में भी आसन के रूप में इसे स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार अनियत्रित वाणी मन को भी अनियत्रित कर देती है। अत तीनों को लक्ष्य में रखना आवश्यक है।

चतुर्विंशतिस्तव

द्वितीय आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। पहले मन ही मन ध्यान द्वारा उसके पश्चात् बोलकर।

जो व्यक्ति जनधर्म स्वीकार करता है उसे देव गुरु और धर्म इन तत्त्वों में आस्था प्रकट करनी होती है। भारतीय साधना में देवतत्त्व के तीन रूप मिलते हैं। प्रथम रूप ईश्वर अर्थात् विश्व नियामक का है। उसी को शिव विष्णु आदि विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ उसकी स्तुति उसे प्रसन्न करने के लिए की जाती है। द्वितीय रूप पतजलि के योग दर्शन में मिलता है। यहाँ वह क्लेश अर्थात् माया से सर्वथा मुक्त है। बुद्ध एव वेदान्ती ने उसको कभी स्पर्श ही नहीं किया। तृतीय रूप जैन

एवं बौद्ध परम्पराओं में मिलता है। यहाँ साधारण व्यक्ति साधना द्वारा दबी हुई आत्मशक्तियों को प्रकट करता है। जब राग द्वेष तृष्णा आदि विकार सर्वथा छूट जाते हैं तो जीवात्मा ही परमात्मा बन जाता है। उसी को अर्हत या अरिहंत कहा जाता है। कुछ अरिहंत आत्मकल्याण के साथ पर कल्याण के लिए भी प्रवृत्त होते हैं। उन्हें जैन परम्परा में तीर्थंकर और बौद्धपरम्परा में बुद्ध कहा गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर धर्मोपदेश करता है और जीवन समाप्त होने पर मोक्ष में पहुँच जाता है। वह दुबारा नहीं आता। युग परिवर्तन के साथ तीर्थंकर भी नये नये होते हैं।

जैनधर्म में काल को चक्र की उपमा दी जाती है। उसमें बारह आरे हैं। छः उत्थान का प्रदर्शन करते हैं और छः पतन को। इन्हीं को क्रमशः उत्सर्पिणीकाल तथा अवसर्पिणी काल कहा जाता है। प्रत्येक में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल है। इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए और अन्तिम महावीर। चतुर्विंशतिस्तव में इन्हीं की वन्दना है।

इसमें लोगस्स का पाठ बोला जाता है। पहली गाथा निम्न लिखित है

लोगस्स उज्जोयगरे धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसंपि केवली॥

मैं विश्व में प्रकाश करनेवाले, धर्मतीर्थ के संस्थापक, राग

प्रति किसी प्रकार का अविनय किया है तो उसके लिए क्षम माँगता हूं।

जनधम म नवकार मत्र का अद्भुत महत्त्व है। प्रत्येक काय ‍ प्रारभ म उसका पाठ किया जाता है जो इस प्रकार है—

नमो अरिहताण
नमो सिद्धाण
नमो आयरियाण
नमो उवज्झायाण
नमो लोए सव्वसाहूण

अरिहत की व्याख्या ऊपर आ चुकी है। य ही शरीरत्या के पश्चात सिद्ध कह जाते हैं। इन दोना को देवतत्त्व म गिना जात है। ततीय पद म आचार्यों की वदना की गई है। वे श्रमणस की व्यवस्था और आचार का पालन करात है। चौथे पद म उपा ध्यायों का वन्दना है। उनका काय पठन पाठन है। पचम पद समस्त साधुओं की वन्दना की गई है। एक बात उल्लखनीय है कि यहा किसी व्यक्ति की वन्दना नहीं की गई। पांचो पद विभिन्न गुणो और चारित्र क स्तरो को प्रकट करते हैं।

जब गहस्थ मुनियो के दशन करने जाते हैं तो निम्नलिखि मगलपाठ सुनाया जाता है—

चत्तारि मगल—

अरिहता मगल। सिद्धा मगल। साहू मगल।
केवलीपण्णत्तो धम्मो मगल।

चत्तारि लोगुत्तमा—

अरिहंता लोगुत्तमा । सिद्धा लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा । केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि—

अरिहंत सरणं पवज्जामि । सिद्ध सरणं पवज्जामि । साहू सरणं पवज्जामि । केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

इस मंगल पाठ में प्रथम [illegible] का सम्बन्ध देववन्दन के साथ है [illegible]ीय का गुरुवन्दन के साथ और चतुर्थ का धर्म के साथ ।

प्रतिक्रमण—

चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमण है । साधक से इसे बाहर दूसरे [illegible] हिंसा की जाती है प्रतिक्रमण में साधक उसको याद कर दोषों [illegible] लिए पश्चात्ताप करता है । [illegible] अपने अपने दोषों [illegible] दोहराते हैं और जानकर या अनजान में हो गई स्खलनाओं [illegible] लिए पश्चात्ताप करते हैं । प्रत्येक [illegible] के अन्त में कहा जाता है [illegible] मिच्छा मि दुक्कडं अर्थात् मेरा दुष्कृत [illegible] हो । उसके [illegible] [illegible]य तीन पद बोले जाते हैं पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि [illegible] अर्थात् मैं उन कार्यों से पीछे हटता हूँ उनकी निन्दा करता [illegible] हूँ गर्हित समझता हूँ इस प्रकार [illegible] उनसे दूर [illegible] [illegible]ल्प किया जाता है ।

जन साधना म गृहस्थ के लिए व्रतों का विधान है। प्रथ पाच व्रत अहिंसा स य अचौर्य ब्रह्मचय तथा अपरिग्रह के मा है। मुनि उनका पालन पूर्णरूप से करता है। अत उसके त्याग क महाव्रत कहा जाता है। गृहस्थ आंशिक रूप से त्याग करता अत उस अणुव्रत कहा जाता है। इन व्रतों का सम्बन्ध सामाजि जीवन के साथ है। तत्पश्चात् तीन गुणव्रत आते हैं जिनमें गृहस्थ शोषण क्षेत्र तथा दैनन्दिन व्यवहार में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा करता है। उन कार्यों से भी अलग रहने का निश्चय करत है जिनमें स्वय को दूसरे को कष्ट पहुंचाने की सम्भावना हो इसके बाद शिक्षाव्रत कहे जाते हैं। ये आत्मशुद्धि के लिए हैं प्रत्येक व्रत के पाच अतिचार हैं। इसके पश्चात और भी पाठ आते जाते हैं। उनमें प्रथम का सम्बन्ध स्वाध्याय अथवा शास्त्राध्ययन के साथ है। उसके चौदह अतिचार हैं। द्वितीय का सम्बन्ध सम्यक्त्व अर्थात श्रद्धा के साथ है। इसके पाँच अतिचार हैं। अष्टमप्र के साथ पन्द्रह कर्मादान का पाठ किया जाता है। इनका अर्थ है उन व्यवसाय जिनमें बहुत अधिक हिंसा होती है। जैसे वनस्पति जलाने के लिए जंगल में आग लगाना, तालाब सुखाना, शिकारी कुत्ते रखना इत्यादि। अन्त में सलेखना व्रत है।

सलेखना में यह शरीर अथवा जीवन अपने आप में लक्ष्य नहीं है। उसकी उपादेयता आत्मविकास के साधन होने में है। अन्तिम अवस्था में जब साधक यह देखता है कि यह आत्मशुद्धि का साधन होने के स्थान पर उसमें बाधक बन रहा है। आत्मचिन्तन के स्थान

उस का चिन्तन रहता नहीं। तो उस की शान्तिपूर्वक ... है। इसके भी पाँच अतिचार हैं। इस प्रकार शुभ चिन्तन ... चारों का चिन्तन एवं पाठ किया जाता है। सर्वप्रथम उनका ... अर्थात् इन को मन चिन्तन करते हैं। फिर पाठ करते हैं। ... पश्चात् उन्हीं का वर्णों के साथ पढ़ा जाता है।

... तथा अतिचार

स्वाध्याय विषयक चौदह अतिचार निम्नलिखित हैं

१ व्याविद्ध स्वाध्याय करते समय उलटा पढ़ना।

२ व्यत्याम्रेडित — ... अथवा ... को ... ता। उनका क्रम बदलना।

३ हीनाक्षर — किसी अक्षर को छोड़ देना।

४ अत्यक्षर — अधिक अक्षर बोलना अथवा अपनी ओर से मिलाना।

५ पदहीन — किसी पद का छोड़ देना।

६ विनयहीन — नम्रता अथवा ... का ध्यान न करना।

७ योगहीन — मन वचन ... ।

८ घोषहीन — उदात्त अनुदात्त ... का ध्यान न रखना।

९ सुष्ठुदत्त — अध्ययन ... ।

१० दुष्ठु प्रतीच्छित — ... ।

११ अकालस्वाध्याय — अर्थात् अयान निषिद्ध समय में स्वाध्याय करना ।

१२ कालेऽस्वाध्याय—विहित समय में स्वाध्याय न करना ।

१३ अस्वाध्यायेस्वाध्याय— अस्वाध्याय में स्वाध्याय ।

१४ स्वाध्याय अस्वाध्याय— स्वाध्याय में अस्वाध्याय ।

शास्त्रों में आया है कि यदि गाम में मनुष्य अथवा पशु का शव पड़ा हो कलह चल रहा हो रहा हो अथवा नगर पर काई संकट छाया हो ऐसी परिस्थिति में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

ग्यारहवां और बारहवां अतिचार काल की अपेक्षा से हैं। तेरहवां और चौदहवां क्षेत्र अथवा परिस्थिति की अपेक्षा से ।

सम्यक्त्व व्रत

सम्यक्त्व व्रत में नीचे लिखा पाठ बोला जाता है—

अरिहंतो मह देवो जाव जीवाये सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्त तत्त इय सम्मत्त मए गहियं ।।

अर्थात् अरिहन्त मेरे देव हैं साधु गुरु और जिन प्रतिपादित धर्म ही सार है । मैं इस सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूं ।

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ शंका—शास्त्र अथवा जिनवाणी में सन्देह करना
२ कांक्षा—अन्य मत की ओर झुकना
३ विचिकित्सा—मन का डावाडोल रहना

४ परपाषण्डप्रशंसा—अन्य मतावलम्बी की प्रशंसा

५ परपाषण्डसंस्तव—अन्य मतावलम्बी के साथ घनिष्ठता

उपर्युक्त अतिचार साधक की संकुचित मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। किन्तु साधना के क्षेत्र में ये आवश्यक हैं। सत्यासत्य का विचार करते समय हम प्रत्येक पक्ष को समान स्तर पर रखते हैं। किन्तु जब चलना होता है तो किसी एक ही मार्ग को अपनाना होता। सच्चा साधक दूसरे मार्गों की निन्दा नहीं करता। उनकी चर्चा में न आकर अपने मार्ग पर पूर्ण निष्ठा के साथ बढ़ता चला जाता है। चारों ओर ध्यान रखने वाला आगे नहीं बढ़ पाता। इसी दृष्टि को सामने रखकर उपर्युक्त व्रत में एक मार्ग में चित्त का स्थिर होना अनिवार्य माना गया है।

प्रथम अणुव्रत अहिंसा

जैनधर्म में जीवों के दो भेद किए गए हैं। त्रस और स्थावर। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों के जीव स्थावर श्रेणी में आते हैं। कीड़े मकोड़ों से लेकर मनुष्य पर्यन्त चलने फिरने वाले जीव त्रस श्रेणी में। गृहस्थ श्रावक स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करता। त्रस जीवों में भी वह अपराधी को दण्ड दे सकता है। जो हिंसा असावधानता में हो जाती है उसका भी त्याग नहीं करता। वह केवल निरपराध त्रस जीवों को स्वेच्छापूर्वक मारने का त्याग करता है। इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ बंध—पशु अथवा मनुष्य को कष्टदायी बंधन में डालना

२ वध—कठोर ताडन करना।

३ क्षतविक्षत—शरीर में घाव कर डालना।

४ अतिभार—अधिक बोझ लादना।

५ भक्तपानव्युच्छेद—समय पर भोजन तथा पानी न देना

उपर्युक्त अतिचार उस अवस्था को प्रकट करते हैं जब पशु पालन गृहस्थ का अनिवार्य अंग था। मुख्य दृष्टि आश्रितों के साथ व्यवहार की है। वे पशु हों अथवा मनुष्य।

द्वितीय अणुव्रत सत्य

इसमें स्थूल मृषावाद का त्याग किया जाता है। उदाहरण के रूप में विवाह सम्बन्धी वार्तालाप के समय कन्या की आयु अथवा अन्य बातों के सम्बन्ध में झूठ बोलना। लेन देन करते समय पशु अथवा भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना। झूठी साक्षी देना। जाली दस्तावेज लिखना इत्यादि। इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं।—

१ सहसाभ्याख्यान—आवेश में आकर मिथ्या आरोप लगाना। यदि जानबूझ कर आरोप लगाया जाता तो वह अतिचार न रहकर अनाचार हो जाता है वहां व्रत सर्वथा टूट जाता है।

२ रहस्याभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रकट करना।

३ स्वदारमन्त्रभेद—पत्नी की गुप्त बातें प्रकट करना।

४ मृषोपदेश - झूठा उपदेश देना।

५ कूटलेख- झूठे दस्तावेज लिखना।

तृतीय व्रत अस्तेय

इसमें गृहस्थ स्थूल चोरी का त्याग करता है। इस व्रत का दूसरा नाम अदत्तादान विरमण है अर्थात् बिना दिए वस्तु का न लेना। स्थूल चोरी के रूप में सेंध लगाना, गांठ खोलना, अपनी चाबी लगाकर किसी का ताला खोलना आदि गिनाई गई हैं। इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ स्तेनाहृत—चोर द्वारा लाई गयी वस्तु स्वीकार करना।

२ तस्कर प्रयोग— चोर को नियुक्त करना।

३ विरुद्धराज्यातिक्रम— परस्पर विरोधी राज्यों की सीमा का अतिक्रमण।

४ कूटतोल कूटमान—कम नापतोल रखना।

५ तत्प्रतिरूपकव्यवहार—नकली वस्तुएं बेचना।

है—१ स्वदारसंतोष २ परदारविवर्जन । द्वितीय कोटि में केवल परकीया के साथ सम्पर्क का त्याग किया जाता है, सामान्या की छूट रहती है । इसके पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ इत्वरिकपरिगृहीतागमन — कुछ समय के लिए परिगृहीत स्त्री से सम्पर्क ।

२ अपरिगृहीतागमन—वेश्यागमन ।

उपर्युक्त दो विभाजन इस बात को प्रकट करते हैं कि उन दिनों अस्थायी विवाह भी होते थे । किसी स्त्री को कुछ समय के लिए खरीद लिया जाता था । उस अवधि में वह किसी दूसरे के साथ सम्पर्क नहीं रख सकती थी । इसके विपरीत वेश्या स्वतन्त्र होती थी ।

३ अनंगक्रीडा — कामवासना को प्रोत्साहन देने वाली क्रीडाएं ।

४ परविवाहकरण—अन्य स्त्री-पुरुषों के विवाह में तथा सम्पर्क में रुचि लेना ।

५ कामभोगतीव्राभिलाष —यौनसम्बन्ध की तीव्र अभिलाषा

गृहस्थ को अपनी सन्तान एवं कुटुम्ब के लड़के लड़कियों का विवाह करना पड़ता है । गाय भैंस आदि पशुओं का भी सम्बन्ध कराना होता है । अतः उन्हें दृष्टि में रखकर इस व्रत का एक करण योग से विधान है ।

पंचम अणुव्रत परिग्रहपरिमाण

मुनि सम्पत्ति का पूर्णतया त्याग करता है। वहाँ इस व्रत का नाम अपरिग्रह है। गृहस्थ उसकी मर्यादा करता है, तदनुसार व्रत का नाम भी परिग्रहपरिमाण है। इसमें नौ प्रकार की सम्पत्ति गिनी जाती है—

१ क्षेत्र—खेत अर्थात् कृषिभूमि

२ वास्तु—निवास अर्थात् मकान

३ हिरण्य—चाँदी, तांबा, पीतल आदि धातुओं की मर्यादा

४ सुवर्ण—सोने की मर्यादा।

५ धन—घरेलू सामान

६ धान्य—खाद्य वस्तुएँ

७ द्विपद—दास दासी

८ चतुष्पद—गाय भैंस हाथी घोड़े आदि

९ कुप्य—[illegible]र बर्तनादि।

यहाँ निश्चित मर्यादा का अतिक्रमण ही अतिचार है। प्रथम आठ को चार युगलों के रूप में बाँटा जाता है और अन्तिम को स्वतन्त्र। इस प्रकार पाँच अतिचार हो जाते हैं।

जैनधर्म का कथन है कि आर्थिक संघर्ष [illegible] लिए [illegible] व्यक्ति या [illegible] स्वेच्छापूर्वक सम्पत्ति की मर्यादा। [illegible] ऊपर से लादी गई मर्यादा स्थायी [illegible] जाता है।

षष्ठ व्रत

इसमें गृहस्थ शोषण के क्षेत्र की मर्यादा करता है। मुनि किसी का शोषण नहीं करता। अतः उसके लिए क्षेत्र सम्बन्धी कोई मर्यादा नहीं है। पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ ऊर्ध्व दिक् परिमाणातिक्रम

२ अधो दिक् परिमाणातिक्रम

३ तिर्यक् दिक् परिमाणातिक्रम—इसमें पूर्व पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण चारों दिशाएं आ जाती हैं।

४ क्षेत्रवृद्धि—मर्यादित क्षेत्र को बढ़ा लेना।

५ स्मृत्यन्तर्धान—क्षेत्र मर्यादा का विस्मृत होना।

इसी व्रत के साथ रात्रि भोजन का परित्याग भी गिना जाता है।

सप्तम व्रत उपभोगपरिभोगपरिमाण

इसमें दैनन्दिन उपयोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा की जाती है। खाद्य पेय शयन आसन निवास वस्त्र विलेपन आदि के रूप में यहाँ छब्बीस बातें गिनाई गई हैं। पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं

१ सचित्ताहार—मर्यादा का अतिक्रमण करके सचित्त वस्तु का सेवन।

२ सचित्तप्रतिबद्धाहार—ऐसी वस्तु का सेवन जो सचित्त के साथ सटी हुई हो।

३ अपक्व औषधि भक्षण—कच्ची नरम बूटियों का सेवन।

४ दुष्पक्व औषधि भक्षण- अधपकी जड़ी बूटियों का सेवन।

५ तुच्छौषधिभक्षण—ऐसी वस्तुओं का भक्षण जिनमें खाद्य अंश थोड़ा हो, त्याज्य अधिक।

पन्द्रह कर्मादान

इसी व्रत के साथ पन्द्रह कर्मादान भी गिने जाते हैं। गृहस्थ को ऐसे धन्धे न करने चाहिए जिनमें अधिक हिंसा होती हो। कर्मादान में उन्हीं की गणना है।

१ अंगार कर्म—कोयले का व्यवसाय। इसके दो प्रकार हैं—कोयले बनाना अथवा ईंटें पकाना आदि ऐसे व्यवसाय करना जिनमें बहुत ज्यादा आग जलानी पड़े।

वनकर्म—जंगल को ठेके लेना। बस्तियाँ बसाने अथवा खेती के लिए जंगलों को कटवाना।

३ शकटकर्म—बैल गाड़ियों का धन्धा। इसमें भी बनाना और किराये पर चलाना दोनों आ जाते हैं।

४ भाटक कर्म—भाड़े पर बैल घोड़े खच्चर आदि लादने का काम।

५ स्फोटकर्म — कूप आदि के लिए भूमि विस्फोट का व्यवसाय।

६ दन्तवाणिज्य — हाथी आदि पशुओं के दांतों का व्यवसाय।

७ केशवाणिज्य — चमरी गाय आदि के केशों का व्यवसाय।

८ रसवाणिज्य — मदिरा आदि का व्यापार।

९ लाक्षा वाणिज्य — लाख का व्यापार।

१० विष वाणिज्य — विभिन्न प्रकार के विषों का व्यापार।

११ यन्त्रपीडन — कोल्हू में सरसों आदि पालन का व्यवसाय

१२ निर्लाञ्छन कर्म — पशुओं का निर्लाञ्छन अर्थात् नपुंसक बनाने का व्यवसाय।

१३ दावाग्निदापन — जंगल में आग लगाने का व्यवसाय।

१४ सरोह्रदतडागशोषण — सरोवर, ह्रद, तडाग आदि को सुखाने का व्यवसाय।

१५ असतीजनपोषण — दुराचारिणी स्त्रियों द्वारा व्यवसाय चलाना।

अष्टमव्रत–अनर्थदण्डविरमण

अनर्थदण्ड का अर्थ है ऐसा कार्य जिसमें व्यर्थ ही दूसरे को हानि पहुंचती है, किसी का लाभ नहीं होता। इसके चार प्रकार हैं —

१ अपध्यानाचरित — मन में बुरे विचार लाना। बहुत

जय है समता की आत्मा में स्थान का अभ्यास। साधारणतया स्थ ता यही अर्थात अहनाश्राम मिनट के लिए अपनाया जाता है। पाच अतिचार निम्नलिखित है—

१ मनोदुष्प्रणिधान—मन में बुरे विचार आना

२ वचनदुष्प्रणिधान—वाणी का दुरुपयोग

३ कायदुष्प्रणिधान—अनुचित शारीरिक हलचल

४ विस्मृति—भूल जाना कि मैं सामायिक में हू

५ अनवस्थितता—अस्थिरता।

दशम व्रत देशावकाशिक

इसमें यथाशक्य कुछ समय के लिए निश्चित कार्यों का त्याग किया जाता है। साधारणतया यह व्रत रात्रि के लिए अपनाया जाता है और कभी दिन रात के लिए। उस अवधि में साधक घर में सम्बन्ध छोड़कर धर्मस्थान में रहता है। पाच अतिचार निम्नलिखित है –

१ आनयन– बाहर से किसी वस्तु को मंगाना।

२ प्रेषण —अपनी वस्तु को बाहर भेजना।

३ शब्दानुपात—वाणी द्वारा बाहर वालों के साथ सम्पर्क स्थापित करना।

४ रूपानुपात—इशारों द्वारा अपनी बात कहना।

५ पुद्गलप्रक्षेप—कोई चीज फेंक कर संकेत करना।

३ जीविताशंसा—अधिक दिनों तक जीने की आकांक्षा
४ मरणाशंसा—कष्ट से घबरा कर शीघ्र मरने की इच्छा
५ कामभोगाशंसा—किसी अधूरी इच्छा को पूर्ण करने की आकांक्षा।

इसी को समाधि मरण कहा जाता है।

अठारह पाप

इसी के साथ अठारह पापों की गणना भी की जाती है। वे हैं—

१ प्राणातिपात—हिंसा
२ मृषावाद—असत्य
३ अदत्तादान—अस्तेय
४ मैथुन—अब्रह्मचर्य
५ परिग्रह—धनसम्पत्ति का संग्रह
६ क्रोध
७ मान
८ माया
९ लोभ
१० राग
११ द्वेष
१२ कलह
१३ अभ्याख्यान – मिथ्या आरोप
१४ पैशुन्य—चुगलखोरी

६ प्रत्येकबुद्धसिद्ध – अपनी साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करके सिद्ध होने वाले

७ बुद्धबोधितसिद्ध—उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होने वाले

८ स्त्रीलिंगसिद्ध– स्त्री के रूप में मोक्ष प्राप्त करने वाले

९ पुरुषलिंगसिद्ध—पुरुष के रूप में मोक्ष प्राप्त करने वाले

१० नपुंसकलिंगसिद्ध—नपुंसक के रूप में मोक्ष प्राप्त करने वाले

११ स्वलिंगसिद्ध—जैनसाधु के वेश में मोक्ष प्राप्त करने वाले

१२ अन्यलिंगसिद्ध—जैनेतर वेश में मोक्ष प्राप्त करने वाले।

१३ गृहस्थलिंगसिद्ध—गृहस्थ के रूप में मोक्ष प्राप्त करने वाले।

१४ एक सिद्ध अकेले मोक्ष प्राप्त करने वाले

१५ अनेक सिद्ध —सामूहिक रूप में मोक्ष प्राप्त करने वाले

उपर्युक्त भेद जैन दृष्टि की व्यापकता को प्रकट करते हैं। मोक्ष किसी तीर्थंकर अथवा आचार्य की परम्परा में हो अथवा स्वतन्त्र दूसरे से ज्ञान प्राप्त कर अथवा स्वयं आत्मचिंतन द्वारा स्त्री हो या पुरुष जैन साधु के वेश में अथवा गृहस्थ के वेश में प्रत्येक व्यक्ति साधना एवं आन्तरिक चित्तशुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

क्षमापना

इसमें चौरासी लाख जीवयोनियों की गणना और सबसे क्षमायाचना की जाती है। अन्त में नीचे लिखा पाठ बोलते हैं—

> खामेमि सव्वे जीवा
> सव्वे जीवा खमंतु मे।
> मित्ती मे सव्वभूएसु
> वेरं मज्झं न केणइ॥

मैं अपनी ओर से सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ। सब ओर से मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरी सबसे मित्रता है, किसी से वैर नहीं है।

अतिचार पाठ, वन्दना और क्षमापना प्रतिक्रमण अर्थात् चतुर्थ आवश्यक के ही परिशिष्ट हैं।

५. कायोत्सर्ग

पञ्चम आवश्यक कायोत्सर्ग है। काय का अर्थ है—शरीर और उत्सर्ग का अर्थ है परित्याग। इसमें कुछ क्षण के लिए शारीरिक सम्बन्ध का त्याग करके मानसिक चिन्तन किया जाता है। जैन साधना में इसका बहुत महत्त्व है और धार्मिक के प्रत्येक अनुष्ठान के प्रारम्भ में आवश्यक माना गया है। यह क्रिया प्रतिज्ञा के रूप में हो सकती है... भावना के रूप में ... अथवा संकल्पित भावों की प्रत्यालोचना के रूप में। मानसिक

चित्त साधना को मौलिक पाठ में आगे बढ़ाकर हृदय की भूमिका पर पहुंचा देता है। कायोत्सर्ग में पहले तत्सम्बन्धी निश्चय के रूप में निम्नलिखित पाठ बोला जाता है—

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए, ठामि काउस्सग्गं।' अर्थात् प्रतिक्रमण की उत्तरक्रिया के रूप में प्रायश्चित्त करने के लिए विशुद्धि के लिए आत्मा को शल्यरहित बनाने और पाप कर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग प्रारम्भ करता हूं। कायोत्सर्ग खड़े खड़े या बैठ कर दोनों प्रकार किया जाता है। अशक्त लेट कर भी कर सकता है।

जैन साधना में इसे सर्वश्रेष्ठ तप माना गया है।

६ प्रत्याख्यान

छठा अनुष्ठान प्रत्याख्यान है। इसका अर्थ है परित्याग। साधक आत्मशुद्धि के रूप में प्रतिदिन यथाशक्ति किसी न किसी प्रकार का त्याग करता है। इसके लिए साधारणतया दस प्रकार के प्रत्याख्यानों का विधान है। जैसे—

१ नवकारसी—सूर्योदय के पश्चात् ४८ मिनट तक कुछ न खाना पीना। इसकी पूर्ति नमस्कार मंत्र पढ़कर की जाती है। इसीलिए इसे नवकारसी कहते हैं। नवकार नमस्कार का अपभ्रंश है।

२ पोरिसी—एक पहर तक कुछ न खाना पीना।

है। इसका अनुष्ठान दैनिक कर्तव्य के रूप में दो बार किया जाता है। सायंकाल सूर्यास्त होने पर और प्रातः सूर्योदय से पहले। सायंकाल का प्रतिक्रमण दिन में होने वाली भूलों के लिए किया जाता है और उसे देवसी (सं० दैवसिक) कहते हैं। प्रातःकाल का प्रतिक्रमण रात्रि सम्बन्धी दोषों के लिए किया जाता है और उसे रायसी (सं० रात्रिक) कहते हैं। पन्द्रह दिन के पश्चात् पाक्षिक, चार महीने के पश्चात् चातुर्मासिक और वर्ष के पश्चात् सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन जैनधर्म का सबसे बड़ा पर्व है। जो व्यक्ति उस दिन हृदयशुद्धि नहीं करता उसे अपने को जैन कहने का अधिकार नहीं है। इस अवसर पर उपवास रखा जाता है और सायंकाल पूरे मनोयोग के साथ प्रतिक्रमण किया जाता है। दिन में आलोयणा होती है। यह धर्म की आराधना का प्रमुख दिन है। साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका सभी धर्मस्थान पर एकत्रित होते हैं। धर्मगुरु प्रत्येक जीवन में संभावित पापों की गणना करता है और उनके लिए पश्चात्ताप करने को कहता है। सभी श्रोता मिच्छामि दुक्कडं कहकर पश्चात्ताप प्रकट करते हैं। इस समय के लिए कुछ भावात्मक रचनाएं भी बनी हुई हैं। उनका भी पाठ किया जाता है। मदनरेखा की चौपाई बहुत प्रसिद्ध है।

दूसरे दिन प्रत्येक गृहस्थ मुनि के निकट जाता है। उनसे क्षमाप्रार्थना करता है। साथ ही परिचित वर्ग के पास जाता है। अन्य स्थानों पर बसे हुए परिचित वर्ग के पास क्षमा-

जैनधर्म और हमारा व्यक्तित्व

जैनदर्शन के अनुसार हमारा व्यक्तित्व आत्मा और तीन शरीरों का बना है। कार्माण शरीर, तैजस शरीर और औदारिक शरीर। इनके अतिरिक्त दो शरीर और हैं वैक्रियक और आहारक। ये दोनों लब्धि अर्थात् योग विभूति के रूप में प्राप्त होते हैं। देव और नरक योनि में औदारिक के स्थान पर जन्म के साथ ही वैक्रियक शरीर होता है।

दूसरे दर्शनों में भी हमारे व्यक्तित्व के घटक कई शरीर माने गये हैं। उनके साथ जैनदर्शन की तुलना करने पर बहुत सी नई बातें सामने आ मिलती हैं। ऐसे भी बहुत से तथ्य हैं जिनका जैन साहित्य में अधिक स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

सर्व प्रथम हम योगदर्शन को लेते हैं। उसका जैनदर्शन के साथ विशेष साम्य नहीं है फिर भी तुलना के लिये उसकी जानकारी आवश्यक है। योगदर्शन में हमारे व्यक्तित्व के घटक चार तत्त्व हैं—आत्मा, मन, इन्द्रियाँ और शरीर।

आत्मा—विभु तथा नित्य है। वह छोटा बड़ा नहीं होता। जैन दर्शन उसे शरीर परिमाण मानता है। छोटे शरीर में छोटा हो जाता है और बड़े शरीर में बड़ा। फलस्वरूप वह सावयव भी है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि आत्मा के प्रदेश असंख्य होने

किन्तु ये गुण शाश्वत नहीं हैं। कारण सामग्री उपस्थित होने पर उत्पन्न होते हैं और अपने आप समाप्त हो जाते हैं। मुक्त अवस्था में कोई गुण नहीं रहता। इसके विपरीत जैन दर्शन ज्ञान और सुख को स्वाभाविक मानता है। वहाँ ज्ञान के साकार और निराकार के रूप में भेद कर दिये गए हैं। आत्मा में चौथा स्वाभाविक गुण अनन्त वीर्य है जिसकी तुलना प्रयत्न के साथ की जा सकती है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा में अनन्त वीर्य होता है किन्तु वह केवल शक्ति रूप में रहता है, क्रिया में परिणत नहीं होता। न्याय दर्शन वहाँ प्रयत्न का अभाव मानता है और जैन दर्शन शक्ति मानने पर भी उसकी क्रिया रूप में परिणति नहीं मानता। इस प्रकार दोनों में विशेष अन्तर नहीं रहता। सुख के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात है। जैन दर्शन के अनुसार विषयज सुख कर्म के उदय से होता है और मुक्त दशा में कर्म का उदय नहीं रहता। इस कारण उस सुख का भी अन्त हो जाता है। हाँ, जो सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है उसकी सत्ता वहाँ रहती है।

जैन दर्शन में जो स्थान कार्मण शरीर का है वही न्यायदर्शन में धर्म और अधर्म का है। कार्मण शरीर का अर्थ है संचित कर्म परमाणु। वे दो प्रकार के होते हैं। अनुकूल फल देने वाले और प्रतिकूल फल देने वाले। इन्हीं को न्याय दर्शन में क्रमशः धर्म और अधर्म कहा गया है। दोनों को अदृष्ट कहा जाता है।

(३) कारण शरीर

(४) पुरुष या आत्मा

स्थूल शरीर का स्वरूप प्रायः न्यायदर्शन के समान है। किन्तु एक विशेषता है जिसका दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। न्याय दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के रूप में पांचों भूतों का पृथक एवं स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इनमें प्रथम चार सावयव हैं अर्थात् उनके परमाणु होते हैं और वे मिलकर स्थूल शरीर का निर्माण करते हैं। आकाश निरवयव है। उसके परमाणु नहीं होते। पांचों भूत अपना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। उनका परस्पर संधान होने पर भी सम्मिश्रण नहीं होता। अर्थात् पृथ्वी के परमाणु कभी जल के रूप में परिणत नहीं होते। गुणों की दृष्टि से भी उनमें तारतम्य है। पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श चारों भौतिक गुण रहते हैं। जल में गन्ध नहीं होता। अग्नि में रस नहीं होता और वायु में रूप नहीं होता। आकाश में ये चारों नहीं होते।

सांख्यदर्शन महाभूतों का अस्तित्व स्वीकार करता है। किन्तु उन्हें शाश्वत नहीं मानता। वे सब प्रकृति नामक तत्त्व के ही विकार हैं। परमाणु और उनके आधार पर होने वाला भेद भी उसे स्वीकार नहीं है। उनके स्थान पर वह पांच तन्मात्राएं मानता है। जिनका अर्थ है पांच महाभूतों के शुद्ध अथवा मूलगुण। वे ही अन्य गुणों के साथ सम्मिश्रण होने पर महाभूत का रूप ले लेते हैं। उदाहरण के रूप में पृथ्वी का गुण ग[illegible] तन्मात्रा है।

जल का रस तन्मात्रा, अग्नि का रूप तन्मात्रा, वायु का स्पर्श तन्मात्रा और आकाश का शब्द तन्मात्रा। प्रत्येक महाभूत में आधा भाग निजी तन्मात्रा का होता है और शेष अन्य तन्मात्राओं का। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत में सभी गुण रहते हैं।

जैन दर्शन भूतों में इस प्रकार के पारस्परिक भेद को वास्तविक नहीं मानता। सांख्यदर्शन में जो स्थान प्रकृति का है वह स्थान पुद्गल का है। किन्तु जैन दर्शन उसे परमाणुरूप मानता है। साथ ही यह भी कहता है कि प्रत्येक परमाणु में रूप, रस, गंध और स्पर्श चारों गुण होते हैं। न्यायदर्शन शब्द को गुण मानता है। सांख्य दर्शन उसे तन्मात्रा के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु जैन दर्शन का कथन है कि कुछ पुद्गल परमाणु ही भाषा या शब्द के रूप में परिणत होते हैं। आकाश को वह स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। उसके साथ शब्द का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता है।

ऊपर आठ वर्गणाओं का निर्देश किया जा चुका है। ये सब पुद्गल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जो पुद्गल परमाणु औदारिक शरीर के रूप में परिणत होते हैं उन्हें औदारिक वर्गणा कहा जाता है। और जो वैक्रियक शरीर के रूप में परिणत होते हैं उन्हें वैक्रियक वर्गणा। इसी प्रकार अन्य वर्गणाओं के लिए भी है। किन्तु यह भेद आत्यन्तिक नहीं है। औदारिक शरीर के परमाणु समय पाकर वैक्रियक वर्गणा में परिणत हो सकते हैं। और वैक्रियक शरीर के औदारिक वर्गणा में। इस प्रकार हम देखते हैं कि

जैनदर्शन एक ओर सांख्य के प्रकृतिवाद की ओर झुका हुआ है दूसरी ओर परमाणुओं का अस्तित्व भी स्वीकार करता है।

न्यायदर्शन आरम्भवादी है। वहाँ परमाणु नित्य और अपरिवर्तनशील माने गए हैं। वे ही विभिन्न आकारों और अनुपातों में एकत्रित होकर विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करते हैं। वस्तुओं में परिवर्तन परमाणुओं के परिवर्तन के कारण होता है। और यह परिवर्तन गुणों का न होकर द्रव्यों का होता है। जब सफेद कपड़ा काला रंग दिया जाता है, तो सफेद परमाणुओं का स्थान काले परमाणु ले लेते हैं।

सांख्यदर्शन परिणामवादी है। वहाँ प्रत्येक अवयवी अपने आप में इकाई है। गुणों में परिवर्तन होने पर भी वस्तु नहीं बदलती। जैनदर्शन परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी परिणामवादी है। वह मानता है कि प्रत्येक वस्तु में रूप रस गन्ध आदि का परिवर्तन होता रहता है। इसके लिए परमाणुओं में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

योग और सांख्य आत्मा को व्यापक मानते हैं। फिर भी यह बात वे नहीं मानते कि प्रत्येक अणु का सम्बन्ध किसी चेतन के साथ अवश्य था। इसके विपरीत जैन दर्शन यह मानता है कि प्रत्येक जड़ कभी न कभी चेतन का शरीर रहा है। पृथ्वी पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर है, जल अप्काय के जीवों का। अग्नि तेजस्काय के जीवों का और वायु वायुकाय के जीवों का।

सांख्यदर्शन में दूसरा स्थान सूक्ष्म शरीर का है। इसके सत्रह अवयव हैं—

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच तन्मात्राएं मन और अहंकार। ज्ञानेन्द्रियों में सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। कर्मेन्द्रियों में रजोगुण की और तन्मात्राओं में तमोगुण की।

व्यक्तित्व का तीसरा स्तर कारण शरीर है। सांख्यदर्शन में इसे महत् या बुद्धि कहा जाता है। इसका अर्थ है जड़ और चेतन का प्रथम सम्बन्ध। इसमें चेतन की शुद्ध अवस्था समाप्त हो जाती है और उस पर अचेतन का प्रभाव पड़ने लगता है। जैनदर्शन में इसी को कार्मण शरीर कहा गया है। यह अच्छे और बुरे समस्त संस्कारों का पुञ्ज है। जो समय समय पर उद्बुद्ध होकर फल देने लगते हैं।

व्यक्तित्व का चौथा स्तर आत्मा है। न्यायदर्शन बुद्धि सुख दुःख आदि को इसकी विशेषताओं के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु ये विशेषताएं आगन्तुक हैं। स्वाभाविक नहीं हैं। मोक्ष में उनका अस्तित्व नहीं रहता। सांख्य दर्शन पुरुष को चित्स्वरूप मानता है। किन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि उसका बुद्धि के साथ सम्पर्क होता है। जानना या अनुभव करना बुद्धि का काम है। और उसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ है। जैन दर्शन ज्ञान के दो भेद करता है—साकार और निराकार। दोनों आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। उसकी यह मान्यता है कि आत्मा अपने आप में अनन्तज्ञान एवं अनन्त दर्शन रूप है। ज्ञान का अर्थ है साकार प्रतिभास और दर्शन का अर्थ है निराकार प्रतिभास।

यह एक प्रश्न है। ज्ञान के भेदों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के रूप में इन्द्रियसापेक्ष आभासों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार दर्शन के भेदों में चक्षुर्दर्शन का उल्लेख है। इन्हें आत्मा की स्वाभाविक परिणति नहीं कहा जा सकता। जैन दर्शन का उत्तर है ज्ञानावरण और दर्शनावरण नाम का कर्म है। कर्म पुद्गल उसकी इस शक्ति को कुण्ठित कर देते हैं। इन्द्रियाँ उस आवरण को थोड़ा दूर करके उसे हटा देती हैं। वे खिड़की के समान हैं। जिसका अर्थ है—आवरण का आंशिक रूप में हटना। देखने का काम आत्मा ही करती है।

उपाध्याय यशोविजय ने इस प्रश्न का समाधान वेदान्त की पद्धति से स्पष्ट कर दिया है। वेदान्त में अविद्या की दो शक्तियाँ मानी गई हैं आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति शुद्ध चेतना को ढकती है और विक्षेप शक्ति घट पट आदि वस्तुओं के रूप में उसे उत्पन्न करती है। यशोविजय अविद्या के स्थान पर केवल ज्ञानावरण को रखते हैं और उसके दो कार्य मानते हैं। एक ओर वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आच्छादित रखता है। दूसरी ओर बाह्य वस्तुओं का ज्ञान उत्पन्न करता है। हम यहाँ उस चर्चा में न जाकर इतना ही कहना चाहते हैं कि इस बात में जैन दर्शन सांख्य दर्शन से भिन्न हो गया है। ज्ञान ही नहीं सुख और शक्ति को भी आत्मा के स्वाभाविक गुण मानता है। इस दृष्टि से वह वेदान्त के निकट पहुँच जाता है जो सत् चित् और आनन्द अर्थात् शक्ति, ज्ञान सुख को आत्मा का

